अंक : 94
(जुलाई-सितम्बर, 2001)

राजभाषा भारती

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
गृह मंत्रालय
राजभाषा विभाग

लाल कृष्ण अडवाणी
गृह मंत्री
संदेश

प्यारे देशवासियो

आज हिंदी दिवस के इस अवसर पर आप सभी को मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

आज के दिन हम एक संकल्प को दुहराते हैं जो हमने 52 वर्ष पूर्व किया था। काफी विचार-विमर्श के बाद 14 सितंबर, 1949 के दिन संविधान सभा ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया था कि स्वतंत्र भारत की अपनी एक राजभाषा होगी, जो देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी होगी। देवनागरी लिपि उच्चारण के दृष्टिकोण से एक पूर्ण लिपि है। इसमें सभी ध्वनियों के उच्चारण की क्षमता है।

हिंदी भारत में अधिकांश लोगों द्वारा बोली व समझी जाती है। हिंदी सभी भाषा-भाषियों को जोड़ने के लिए एक संपर्क भाषा है। भाषा जनता और सरकार के बीच एक मजबूत सेतु का काम करती है। इससे शासक और शासित का भेद मिटता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था पनपती है। लोकतंत्र के विकास के लिए सभी नागरिकों का सहयोग अपेक्षित है। सहयोग से विकास बढ़ता है। ऐसा होने पर कानून-व्यवस्था मजबूत बनती है। मजबूत कानून-व्यवस्था ही सुरक्षा की ठोस गारंटी है।

मैं केन्द्र सरकार के सभी मंत्रालयों, विभागों, स्वायत्त संस्थाओं, उपक्रमों, बैंकों, वित्तीय संस्थाओं, वैज्ञानिक, तकनीकी, चिकित्सा, न्याय-व्यवस्था और मीडिया सहित संगठनों के सभी अधिकारियों और कर्मचारियों से विशेष आग्रह करूंगा कि वे इन बातों पर विचार करें। सरकारी नौकरी केवल नौकरी नहीं बल्कि राष्ट्र सेवा है। जनता से राजभाषा हिंदी के माध्यम से संवाद करते हुए आप अपनी सेवा का फल और सुयश दोनों प्राप्त कर सकते हैं। मेरी अपेक्षा है कि इस ओर आप की चेष्टा स्वत: ही होनी चाहिए।

मैं आप सब से अनुरोध करता हूं कि अपनी जिम्मेदारी के प्रति सचेत हों और राजभाषा हिंदी में अपना सरकारी कामकाज करते हुए संविधान के प्रावधान, राष्ट्रपति के आदेश, संसद के निदेश, राजभाषा अधिनियम और राजभाषा विभाग के वार्षिक कार्यक्रम में दी गई व्यवस्थाओं का कार्यान्वयन करें।

जयहिन्द !

लाल कृष्ण आडवाणी

(लाल कृष्ण आडवाणी)

नई दिल्ली
14 सितंबर, 2001

टी. आर. प्रसाद

10 सितम्बर, 2001

संदेश

भारतीय संविधान सभा ने 14 सितम्बर, 1949 को देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली 'हिंदी' को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया था। तभी से 14 सितम्बर हर वर्ष 'हिंदी दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

2. भारत में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। जनसंपर्क की भाषा के तौर पर इस विशाल देश को एक सूत्र में बांधने में हिंदी की, अन्य भारतीय भाषाओं के साथ-साथ, एक महत्वपूर्ण भूमिका है।

3. केंद्रीय सरकार के सभी मंत्रालयों/विभागों/संगठनों में राजभाषा संबंधी संवैधानिक उपबंधों का पालन करने और सरकारी काम-काज में हिंदी के प्रगामी प्रयोग के लिए राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय द्वारा प्रत्येक वर्ष एक वार्षिक कार्यक्रम जारी किया जाता है, जिसमें हिंदी में काम करने के लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए हमें भरसक प्रयास करने चाहिए।

4. हिंदी में कार्य करना कठिन नहीं है। मेरा यह मानना है कि राजभाषा के बढ़ते प्रयोग से ही हिंदी का सर्वांगीण विकास हो सकता है। इसलिए हमारा यह दायित्व है कि संविधान में निहित राजभाषा की संकल्पना को साकार करने के लिए एक ऐसे वातावरण का निर्माण करें जिसमें सभी कर्मचारी काम-काज में स्वेच्छा से हिंदी का अधिक प्रयोग करने लगें।

(टी. आर. प्रसाद)

2614 H.A./2001—1

भारत के संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थायी सदस्य बनते ही हिंदी भाषा विश्व भाषा के रूप में उभरेगी।

—डा. डी. एन. तिवारी
सदस्य,
योजना आयोग

राजभाषा भारती

वर्ष : 23 अंक : 94
सितम्बर, 2001
निःशुल्क वितरण के लिए

संपादकीय

'राजभाषा भारती' का जुलाई-सितम्बर, 2001 अंक अपने सुधी पाठकों को समर्पित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। राजभाषा विभाग का हमेशा यह प्रयास रहा है कि राजभाषा भारती में सभी विधाओं से संबंधित विषयों पर सामग्री प्रकाशित की जाए। वर्ष 2000 से की गई इस शुरुआत से राजभाषा भारती के कलेवर, साजसज्जा और संकलित की गई विषय-वस्तु में अप्रत्याशित परिवर्तन हुए हैं। हमें अपने पाठकों से भी राजभाषा भारती के पिछले अंकों पर प्रतिक्रियाएं और सुझाव प्राप्त हुए हैं, जिनसे हमारा निश्चित ही उत्साह-वर्धन हुआ है।

प्रस्तुत अंक में भी ऐसे लेख संकलित किए गए हैं जो अत्यधिक वैज्ञानिक और तकनीकी प्रकृति के हैं। हमारा यह उद्देश्य रहा है कि अपने पाठकों को हिंदी में सृजित वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों के लेखों के माध्यम से अधिक से अधिक जानकारी दी जाए और उनका ज्ञानवर्धन किया जाए।

उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अंक में डा. दिनेश मणि के लेख "भविष्य की आहटें हैं विज्ञान कथाएं" में लेखक ने यह निरूपित करने का प्रयास किया है कि वैज्ञानिक कथाएं भविष्य में होने वाली घटनाओं और संभावनाओं का वर्णन करती हैं और आने वाली जटिलताओं के प्रति समाज को आगाह करती हैं। काशीनाथ मिश्र का लेख "भारतीय वांड्मय में कालनिर्णय" एक विशिष्ट प्रकृति का लेख है जो विभिन्न युगों के बारे में बहुमूल्य जानकारी देता है। भारत के परप्रेक्ष्य में काल निर्धारण अत्यधिक प्राचीन घटना है जिसका

उल्लेख पुराणों को छोड़कर अन्य कहीं नहीं मिलता। जैसे-जैसे समाज उन्नति और प्रकृति की ओर बढ़ रहा है वैसे-वैसे विश्व में अनेक बीमारियां पैदा हो रही हैं और जानलेवा सिद्ध हो रही हैं। डा० एच.एन. यादव का लेख ''कैंसर-एक जानलेवा रोग'' इस दिशा में अत्यधिक सूचनाप्रद है। इस लेख के माध्यम से साधारण व्यक्ति कैंसर के लक्षणों के बारे में जानकारी प्राप्त कर के इस रोग से अपना बचाव कर सकता है। इसी दिशा में डा० उमा सक्सेना का लेख ''सोरायसिस'' भी पाठकों के लिए निश्चित ही अत्यधिक सूचनाप्रद साबित होगा। प्रस्तुत अंक में अन्य लेखों में प्रो० योगेश चंद्र शर्मा का ''आर्यों का मूल निवास स्थान'' डा० मधुकर पाडवी का लेख ''दक्षिण गुजरात की जनजातीय बोलियां एवं नागरी लिपि'', बजरंग लाल जेठू का लेख ''हमारी विलक्षण छतरी:ओजोन परत'' तथा डा० शिब्बन कृष्ण रैना का '' मौलिक सृजन, अनुवाद और अनुवाद प्रक्रिया'' लेख मार्मिक, रोचक और अत्यधिक सूचनाप्रद हैं, जिनसे हमारे पाठकगण अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

हमें विश्वास है कि पूर्व की भांति पाठक हमें अपनी प्रतिक्रियाएं और सुझाव अवश्य भेजते रहेंगे ताकि हम राजभाषा भारती के आगामी अंकों को उनके सुझावों के अनुरूप अधिक पठनीय, उपयोगी और ज्ञानवर्धक बना सकें।

उप संपादक :
(सुरेंद्र लाल मल्होत्रा)
दूरभाष : 4698054

संपादक :
(डा. विजय पी. गोयल)
दूरभाष : 4617807

(पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त किए गए विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखक के हैं। सरकार अथवा राजभाषा विभाग का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।)

पत्र-व्यवहार का पता :
संपादक, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, लोकनायक भवन (दूसरा तल) खान मार्किट, नई दिल्ली-110003
ई-मेल : nicdol@alpha.nic.in
वेबसाइट : dol.nic.in

राजभाषा भारती
अंक-94 (जुलाई-सितम्बर, 2001)

विषय-सूची

क्रम सं.	लेख	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	भविष्य की आहटें हैं विज्ञान कथाएं	डा. दिनेश मणि	1
2.	भारतीय वांड्मय में काल निर्णय	काशीनाथ मिश्र	4
3.	कैंसर-एक जानलेवा रोग	डा. एच. एन. यादव	12
4.	सोरायसिस	डा. उमा सक्सेना	21
5.	हमारी विलक्षण सुरक्षा छतरी: ओजोन परत	बजरंग लाल जेठू	24
6.	मौलिक सृजन : अनुवाद और अनुवाद प्रक्रिया	डा. शिब्बन कृष्ण रैना	30
7.	आर्यों का मूल निवास स्थान	प्रो. योगेश चन्द्र शर्मा	35
8.	दक्षिण गुजरात की जनजातीय बोलियां एवं देवनागरी लिपि	डा. मधुकर पाडवी	47
9.	राजभाषा कार्यान्वन संबंधी गतिविधियां		

भविष्य की आहटें हैं विज्ञान कथाएं

—डॉ० दिनेश मणि, डी.एस. सी.

आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान कथाएं साहित्य की विधा के रूप में अपना निश्चित स्थान बना चुकी हैं। निश्चय ही वैज्ञानिक कथा-साहित्य का विज्ञान के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान है। कथा-साहित्य की सरसता के कारण स्वभावत: लोगों की उसमें अभिरुचि अन्य विषयों से अधिक होती है। कथा के रूप में कही गई बातें मनुष्य की समझ में शीघ्र आती हैं और स्मृति पटल पर उनकी छाप काफी दिनों तक रहती हैं। हमारा वर्तमान जीवन पूर्णरूपेण विज्ञान पर आश्रित हो चुका है। इसे हम वैज्ञानिक उपलब्धियों से और अधिक बेहतर बना सकते हैं। इसके लिए जनमानस में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति अभिरुचि पैदा करने की आवश्यकता है और यह कार्य विज्ञान कथाओं के माध्यम से संभव है।

विश्व की विभिन्न भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी, फ्रेंच व रूसी भाषाओं, में प्रचुर मात्रा में विज्ञान कथाओं/उपन्यासों की रचना हुई है। इन विज्ञान कथाओं व उपन्यासों ने, उन देशों के साहित्य में स्वयं को सशक्त एवं समर्थ विधा के रूप में स्थापित कर लिया है। साथ ही इनके माध्यम से, वहां के जनसाधारण में, वैज्ञानिक चेतना एवं वैज्ञानिक दृष्टि भी विकसित हुई है। इन सबके परिणामस्वरूप, उन देशों में अत्यधिक उन्नति हुई है और विज्ञान का प्रचार-प्रसार काफी बढ़ा है।

भले ही विज्ञान कथाएं उतनी मनोरंजक न लगें जितनी कि अन्य साहित्यक कथाएं लगती हैं, फिर भी उनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। ये भविष्य के बारे में संभावनाओं का वर्णन करती हैं, आने वाली, जटिलताओं के प्रति समाज को आगाह करती हैं और मानव के सामने उपस्थित होने वाली गुत्थियों को भी सुलझाती हैं। विज्ञान कथाओं की अनूठी विशेषता है कि ये भविष्य की कल्पना करती हैं और भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास कराती हैं। यदि आगे मानव तथा समाज के प्रति कुछ अनहोनी भी होने वाली है तो ये उसके प्रति सचेत करती हैं। उन समस्याओं को भी उजागर करती हैं जिन्हें आगे सुलझाना है।

विज्ञान कथा साहित्य लेखक द्वारा बुना गया संभावनाओं का संसार है। सुप्रसिद्ध विज्ञान कथा लेखन आइजक आसमोव का कहना हे—"हर विज्ञान कथा लेखक भविष्य में झांकता है"। इस तरह वह अपनी कलम से भविष्य की तस्वीर खींचता है। कई बार वर्तमान प्रयोगों-परीक्षणों के बल पर संभावनाओं का संसार रचता है तो कभी कल्पनाओं के रंग भरता है। इस तरह कुछ विज्ञान कथाएं वैज्ञानिक तथ्यों अथवा तर्क सम्मत तथ्यों की जमीन में उगती हैं तो कुछ संभव

लगने वाली कल्पनाओं के ताने-बाने से बुनी जाती हैं। इनमें पहली तरह का विज्ञान कथा साहित्य लिखने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि जरूरी है। दूसरी तरह की विज्ञान कथाएं फंतासी या कल्पना की उड़ाने होती हैं। लेकिन इस सबके बावजूद विज्ञान कथा या वैज्ञानिक उपन्यास साहित्यक कहानी या उपन्यास के स्वीकृत स्वरूप में रहते हैं। कहानी या उपन्यास की सीमाएं इन पर भी समान रूप से लागू होती हैं।

हिंदी के विज्ञान कथा लेखकों के समक्ष हिंदी कहानी तथा उपन्यास जैसी शैलियां सदैव रही हैं किन्तु इनकी कथावस्तु परम्परागत या आधुनिक कहानियों से सर्वथा भिन्न रही है। यदि दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यासों को हिंदी साहित्य में स्थान नहीं दिया गया तो उसका कारण यह नहीं था कि उन उपन्यासों के पाठक कम थे, वरन् हिंदी के आलोचकों की दृष्टि में उन उपन्यासों की कथावस्तु में जीवन दर्शन न होकर मात्र कुतूहल, आश्चर्य या भावी कल्पनाएं रही हैं। हमें यह ठीक से ज्ञात नहीं है कि हिंदी के आलोचक, आजकल विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जितनी विज्ञान कथाएं लिखी जा रही हैं, उनके विषय में क्या सोचते हैं लेकिन एक विज्ञान प्रेमी इन कथाओं को अपनी विचारधारा के अनुकूल पाता है और विश्व के विभिन्न भागों में जिस प्रकार विज्ञान कथाएं लिखी जा रही हैं, उनका हिंदी में चाहे अनुकरण या रूपान्तर क्यों न हो, उससे वे प्रफुल्लित होते हैं—वे विज्ञान सम्बन्धी पत्रिकाओं को छान मारते हैं कि कुछ नई कथाएं मिलें।

वैज्ञानिक कथा साहित्य अंग्रेजी में ''साइंस फिक्शन'' (संक्षेप में ''साई-फि'') के रूप में साहित्य की एक विशिष्टि विधा बन चुका है जिसे सबसे पहले अमेरिकी संपादक ह्यूगो गर्नसबैक ने—''साइंटिफिक्शन'' का नाम दिया। ''साइंटिफिक्शन'' इसलिए क्योंकि तब घनघोर तिलिस्म, जासूसी और रहस्य-रोमांच के बादलों से घिर साहित्याकाश में वैज्ञानिक कथाओं की कौंध को उन्होंने एक अलग पहचान दी। ह्यूगो गर्नसबैक विद्युत् इंजीनियर थे और उन्होंने विज्ञान कथा साहित्य की दस्तकों को सुन लिया था। उन्होंने विज्ञान कथा साहित्य के प्रकाशन के लिए 1928 में ''अमेजिंग स्टोरीज'' पत्रिका निकाली और उसके पहले अंक के संपादकीय में लिखा— ''साइंटिफिक्शन'' से मेरा मतबल जूल्स वर्न, एच.जी. वेल्स तथा एडगर एलन पो की जैसी कहानियों से है, जिन्हें मोहक रोमांस, वैज्ञानिक तथ्यों तथा भविष्य की संभावनाओं में बुना गया हो।

''एस्टाउडिंग साइंस फिक्शन'' के संपादक जान डब्लू, कैम्पबेल ने कहा था—''विज्ञान कथा लेखन को विज्ञान के बराबर ही महत्व मिलना चाहिए और इसे साहित्य की विशेष विधा मानना चाहिए।''

''विज्ञान कथा'' का अर्थ यह नहीं कि उसमें सिर्फ मशीन मानव या तीन आंख वाले दैत्याकार गुबरैलों के कारनामें बखाने जाते हैं। इस तरह के सनसनीखेज चित्र तो घटिया पत्रिकाओं की ही शोभा बढ़ाते हैं। फिर इनमें क्या शामिल किया जा सकता है। शौकीन लोग 1929 से इस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कर रहे हैं। तब से जब ह्यूगो गर्नसबैक ने पहले पहल इन शब्दों

का प्रयोग किया। प्रसिद्ध साहित्यकार किंग्सले एमिस का मानना है वर्तमान के ऊपर व्यंग्य को भविष्य की संभावनाओं के रूप में पेश करना ही विज्ञान कथाओं की विशेषता है। कथावस्तु कुछ भी हो सकती है, सेक्स से लेकर विज्ञापन तक। फ्रेडरिक पाल, थियोडोर स्ट्रजियोन, जे.सी. वैलार्ड आदि का लेखन इस मत को पुष्ट करता है। मानव जाति के बारे में सभी तरह की अटकलों को, हमारी समझ में इस नस्ल में शामिल किया जा सकता है। इस सिलसिले में हमें प्रसिद्ध विज्ञान कथा लेखक ब्रायन एल्डिस की एक टिप्पणी याद आती है—"भूत-प्रेत कथाएं भूत-प्रेतों के लिए नहीं लिखी जातीं और इसी तरह विज्ञान कथाएं सिर्फ वैज्ञानिकों के लिए नहीं लिखी जातीं।"

भविष्यवाणियां या संभावनाओं की कल्पनाशील छानबीन से पाठक को अप्रत्याशित के लिए तैयार करना विज्ञान कथा साहित्य की सिर्फ एक उपलब्धि है। नित नए मौलिक अन्वेषणों के सुझाव, समाधान की दिशा सुझाने में भी इनकी भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तभी फ्रेड होयल और जयन्त नारलीकर जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक अपने बहुमूल्य समय और अद्भुत मेधा का एक भाग इस साहित्य के परायण-लेखन के लिए सुरक्षित रखते हैं।

यहां इस बात को जोड़ने की जरूरत है कि पश्चिम में विज्ञान कथाओं के लेखक, विज्ञान की भाषा और जानकारी के मामले में पोंगा-पंडित नहीं होते। असिमोव जैसी विशेषज्ञता हर किसी के वश की बात नहीं, कर्ट वानेगट जैसे लोग भी विश्वविद्यालय स्तर तक विज्ञान पढ़े निकलते हैं। हां, इस सिलसिले में एक और अटकल लगाई जा सकती है कि बढ़ती लोकप्रियता के साथ विज्ञान कथा साहित्य फंतासी की स्वच्छन्द उड़ान से प्रामाणिक जानकारी के तोड़-मरोड़ की ओर क्यों मुड़ने लगा है? अब तक विदेशों में आम आदमी का परिवेश जटिल तकनीकी बन चुका है। संचार, यातायात, चिकित्सा, मनोरंजन सभी क्षेत्रों में अधुनातन वैज्ञानिक उपकरणों, प्रक्रियाओं से उसका परिचय घनिष्ट हो चुका है। बिल बनाने वाले या अभिसारिका चुनने वाले "कंप्यूटर" की नादान गलतियां विज्ञान कथाओं में ही नहीं, चुटकलों में भी मशहूर हो चुकी हैं। रोजमर्रा की जिंदगी में विज्ञान और टैक्नालाजी के बढ़ते हस्तक्षेप के साथ ही ठोस विज्ञान कथा साहित्य की मांग बढ़ी है।

किंतु हमारे समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न है कि क्या "विज्ञान कथा" इतना व्यापक पारिभाषिक शब्द है कि उसमें उपन्यास तथा कहानी दोनों का समावेश हो सकता है? हम नहीं समझ पाते हैं कि विज्ञान गल्प या कहानी "साइंस फिक्शन" का पर्याय हो सकता है। किंतु जब हम "विज्ञान कथा" का प्रयोग करते हैं तो उसमें छोटी कहानी, बड़ी कहानी, गल्प, उपन्यास सभी आते हैं। यही नहीं, इसमें वे तमाम शैलियां तथा विधाएं भी आ जाती हैं जिनसे होकर विज्ञान कथा का क्रमिक विकास होता रहा है। आजकल विज्ञान लेखन में "कहानी" का प्रयोग एक तो वास्तविक कहानी के लिए तथा दूसरा धातु कहानी, आविष्कारों की कहानी, कोयले की कहानी कहने के लिए होता है। निस्संदेह यहां पर कहानी का प्रयोग धातु, कोयला आदि के विषय में रोचक ढंग से वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत करने की शैली के लिए है न कि कहानी तत्वों से युक्त कोयले की

2614 H.A./2001—2A

कहानी के लिए । वस्तुत: आत्मकथा, रिपोर्ताज या डायरी विधाओं का अजीबोगरीब संगम विज्ञान कथा में मिलता है। हिंदी में विज्ञान विषयक कहानी या कथा लिखने वाले अपने-अपने ढंग से अपनी सामग्री को प्रस्तुत करने के प्रयास में कहानी या कथा शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं।

साहित्यिक दृष्टि से आप उन्हें कहानी, कथा या उपन्यास भले न कहें किन्तु हिंदी में वैज्ञानिक लेखन की दिशा में जो नवोन्मेष हुआ है उसमें इन सभी विधाओं का योगदान है। उसी के कारण खत्री जी के वैज्ञानिक उपन्यास रचे गए। आजकल जबकि विदेशों में वैज्ञानिक प्रगति पर आधारित वैज्ञानिक कथाओं का अम्बार लग रहा है हिंदी का पाठक शांत नहीं बैठ सकता। चाहे वह विदेशी भाषाओं की प्रसिद्ध कथाओं का अनुवाद करे या भावानुवाद करे या उसी तरह की कथाएं लिखे, सभी का महत्व है। पाठकों की क्षुधा शांति के लिए तथा शैली के निखार के लिए प्रचुर विज्ञान कथाएं लिखी जा रही हैं। चाहे आप बाल पत्रिकाएं यथा—'बालभारती', 'बालहंस' को लें या कि वैज्ञानिक पत्रिकाएं यथा—''विज्ञान प्रगति'', ''विज्ञान'', ''अविष्कार'' आदि को, सभी में पहले की अपेक्षा अधिक विज्ञान कथाएं निकलने लगी हैं।

प्राय: विज्ञान गोष्ठियों के अवसर पर यह अनुभव किया जाता रहा है कि विज्ञान लेखन की दिशा में विज्ञान कथा लेखन पर बल दिया जाए तो विज्ञान के प्रचार-प्रसार में अधिक सुविधा होगी लेकिन विज्ञान कथा लेखन कोई हंसी ठट्ठा नहीं है। जब तक कोई जो विज्ञान क्षेत्र के विशेष-ज्ञान से समन्वित न हो, इस क्षेत्र में पदार्पण करने का दुस्साहस नहीं करेगा तब तक प्रगति की आशा व्यर्थ है। हां, यदि 'विज्ञान कथा' जैसी मासिक या द्वैमासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया जा सके तो अधिकाधिक लेखक आकृष्ट हो सकते हैं और तब सुरुचिपूर्ण प्रामाणिक विज्ञान कथा साहित्य का सृजन हो सकता है।

सार-रूप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान-कथा साहित्य के संवर्द्धन की नितांत आवश्यकता है। हमें चाहिए कि एक बार तमाम संस्कृत साहित्य को छानकर, पुराणों का मंथन करके भारतीय विज्ञान कथाओं को कुछ ऐसा स्वरूप दें जो हमारी संस्कृति के अनुरूप हो और आधुनिक विज्ञान एंव तकनीकी से हमें जोड़ सके। रूसी विज्ञान कथा से भी प्रेरणा ली जा सकती है। आशा है अगले 5-6 वर्षों में विज्ञान कथा के विविध पहलुओं पर गम्भीर चिंतन एवं लेखन हो सकेगा। वैसे हमारे देश में अन्तरिक्ष विज्ञान तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में जो उच्चस्तरीय कार्य हो रहा है उससे देश में वैज्ञानिक वातावरण अवश्य बनेगा। लेखकों की एक पीढ़ी अवश्य ही विज्ञान लेखन की ओर आकृष्ट होकर रहेगी।

2614 H.A./2001—2B

भारतीय वांग्मय में काल निर्णय

—काशीनाथ मिश्र

सभ्यता के उषा काल में मानव ने जब बदलते हुए भौगोलिक परिवर्तन, ऋतु परिवर्तन का नेश्चित काल-चक्र और नभ मंडल में अनेकों प्रकार के ज्योतिपुंजों के सदा परिवर्तनशील किन्तु तारतम्य युक्त आंख-मिचौली को देखा होगा तो अनायास ही उसके मानस पटल पर कौतूहलपूर्ण प्रश्न आया होगा कि यह परिवर्तन, यह रात दिन, यह ऋतुचक्र, यह आकाशीय तारों की स्थिति में परिवर्तन, आखिर क्यों, कबसे और कैसे ? मानव की अन्वेषक मनोवृत्ति ने भू-पटल पर संगठित या बिखरे हुए मानव को सोचने-समझने के लिए प्रेरित किया होगा और संभवत: अपनी असीमित विचार-शक्ति एवं अन्वेषक वृत्ति के माध्यम से उसने अपना-अपना अलग-अलग निष्कर्ष निकालने की कोशिश की होगी।

सत्य चिरंतन होता है। हालांकि उसका रूप, स्थिति, दृष्टि और समय-सापेक्ष है। उसके मूलरूप में परिवर्तन नहीं आता, अगर परिवर्तन आ गया, मान्यताएं बदल गईं तो वह सत्य नहीं रह जाता है। अत: स्थापित सत्य भी काल के प्रवाह में अपने रूप में परिवर्तन आते ही असत्य-सा प्रतीत होने लगता है। अगर उसमें परिवर्तन नहीं आए, गुण-धर्म ज्यों का त्यों बना रहे तो वही सत्य का सही रूप समझा जाता है। हालांकि यह भी व्यक्ति सापेक्ष है और व्यक्ति के ज्ञान तथा उसके विश्लेषण करने की क्षमता तथा जनसाधारण की उसकी ग्राह्यता पर निर्भर करता है। इस धराधाम पर सत्यान्वेषकों के रूप में भविष्यद्रष्टा, विचारक, वैज्ञानिक और दार्शनिकगण इस सत्य को समझने, इसका विश्लेषण करने और इसको स्थापित करने का प्रयास युगों-युगों से करते रहे हैं। उन्होंने अपनी समझ के अनुसार इसका संपादन किया है और अंत में "नेति-नेति" अर्थात् "और नहीं, और नहीं" के साथ वैचारिक सीमा को सीमाबद्ध किया है। यही कारण है कि जहां विश्व-पुस्तक बाइबल में सृष्टि का रचनाकाल 4004 ईसा पूर्व रखा गया है तो कुछ-कुछ पुस्तकों में पृथ्वी की सृष्टि को संपूर्ण ब्रह्मांड की सृष्टि से अलग और कुछ ने पृथ्वी की सृष्टि को ब्रह्मांड की सृष्टि का ही एक अंग माना है। हालांकि पृथ्वी या ब्रह्मांड की रचना एवं पृथ्वी पर प्राणियों/वनस्पतियों की रचना अलग-अलग घटना मानी जानी चाहिए।

हमारे अपने धार्मिक/पौराणिक ग्रंथों में सृष्टि के बारे में बहुत ही गहन चिंतन किया गया है और यह बड़े आश्चर्य की बात लगती है जब आज के वैज्ञानिक अपने आधुनिक संसाधनों एवं यंत्रों की मदद से पृथ्वी की करीब-करीब वही आयु (करीब 4.5 अरब वर्ष) बताते हैं जो हमारे प्राचीन भारतीय वांग्मय में संकलित है। आज जब कि ब्रह्मांड की सृष्टि एवं इसकी संभाव्य आयु के बारे में अटकलें ही लगाई जा रही हैं, हमारे ऋषि मुनियों ने (प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने) इसके आयु एवं इसके विनाश के विषय में एक निश्चित जानकारी दी है जिसे कदाचित ही काटा

जा सके। हमारी काल गणना गणित आधारित रही है और इसका आधार भी त्रसरेणु (परमाणु) आधारित एवं वैज्ञानिक है। संवत्सर की अवधारणा भी एक प्राचीन भारतीय परम्परा है जिसका युगों से प्रचलन जारी है। आइए देखें, ईस्वी सन् 1996 की तुलना में हमारे मान्य संवत्सरों की क्या वर्ष संख्या है—

युगाब्द/कलियुग का आरंभ	5098 वर्ष
विक्रम संवत्	2053 वर्ष
शालिवाहन/शकाब्द	1918 वर्ष
बंगला संवत्	1403 वर्ष

भारत में काल गणना वस्तुत: बहुत ही पुरानी घटना है, किन्तु पुराणों एवं कतिपय ग्रन्थों को छोड़ इसका उल्लेख नहीं मिलता। कुछ प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों ने अपनी रचनाओं में ज्योतिष एवं कालनिर्णय से संबंधित जानकारी अवश्य दी हैं जैसे वाणभट्ट, वाराहमिहिर, वोद्धायन, कात्यायन एवं महर्षि वेदव्यास ने कालगणना एवं कालनिर्णय के बारे में बहुत ही महत्वपूर्ण विवरण दिया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय सभ्यता की समकालीन अन्य भी प्राचीन सभ्यताएं रही हैं जैसे मिश्र, मेसोपोटामिया, चीन, असीरिया आदि की सभ्यताएं। आधुनिक वैज्ञानिकों का विश्वास है कि ईसा से 5000 वर्ष पूर्व सभ्यताओं का विकास हो गया था जिन में अंकों की प्रणाली तथा अयस्कों से धातु निकालने की प्रणाली विकसित हो गई थी। ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व भूमध्यसागर के तटवर्ती मिश्र देश में पाषाण निर्मित भव्य-भवनों एवं पिरामिडों के निर्माण की कला विकसित हो चुकी थी। हेग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सेलेगेल के अनुसार ईसा से 15000 वर्ष पूर्व चीन वासियों ने शशिचक्र, ग्रहों एवं नक्षत्रों के बारे में अच्छी जानकारी प्राप्त की थी और करीब-करीब ईसा पूर्व 14,600 वर्ष पूर्व उन्होंने आकाशीय पिण्डों की गहन जानकारी रखना आरंभ कर दिया था। चाल्डिया एवं बेबिलोनिया भी अपनी प्राचीन सभ्यता के लिए विख्यात हैं। यूफ्रेट्स एवं टाइग्रिस नदियों की घाटियों में बसे हुए असीरियाई भी नक्षत्र विज्ञान एवं काल निर्णय की अच्छी जानकारी रखते थे। बेबिलोनियन पंचांग का प्रचलन करीब 4700 वर्ष ईसापूर्व हो चुका था जिसमें उच्च गणनाओं का उपयोग किया गया था। सुमेरियन लोगों ने भी करीब 5700 ई.पू. या इससे पूर्व कदाचित अपना संवत्सर मनाना शुरू कर दिया था। ईसापूर्व 2100 वर्ष में हम्मुखी ने अपनी विधि संहिता जारी कर दी थी। असूर में स्थित असुर लोगों ने भी अपने व्यवहार के लिए सुमेरियन पंचांग ईसापूर्व 3000 वर्ष लागू कर दिया था। मय सभ्यता भी एक प्राचीन सभ्यता है जहां ईसापूर्व 3373 में वर्ष गणना प्रारंभ हो गई थी और उन्होंने अपना पंचांग ईसापूर्व 4241 वर्ष में मिश्री पंचांग का प्रचलन हो गया था जिसमें वर्ष 12 महीने तथा प्रत्येक महीने में 30 दिन माने गए थे। वर्षान्त में 5 दिनों के लिए खुशियों का त्यौहार मनाया जाता था जिसे मिलकर

वर्ष के 365 दिन बनते थे जिनका मान आधुनिक काल में भी बरकरार है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि पृथ्वी पर बहुत सी सभ्यताओं ने जन्म लिया और कालान्तर में काल के गाल में विलीन हो गईं और रह गई हमारी प्राचीन गौरवमय भारतीय सनातन परम्परा। है न यह गौरव की बात। एक और आश्चर्य की बात, जब 14वीं शताब्दी से पूर्व यूरोप और दुनिया के अन्य देश मिलियन (दस लाख) से अधिक की संख्या नहीं जानते थे हमारे भारत में हम संख्याओं की गणना तथा उनका उपयोग महाशंख (1019) तक करना जानते थे तथा काल निर्णय में उनका भरपूर उपयोग किया था जैसा की आप आगे देखेंगे।

भारतीय प्राचीन पुस्तक सूर्य सिद्धांत को रचना काल कहते हैं करीब 2,165,000 वर्ष तथा मनुसंहिता का रचना काल माना गया है 6×71×4,320,000 वर्ष। भले ही आधुनिक काल में कोई इनकी प्राचीनता का विश्वास करे या न करे यह तो सत्य है कि ये पुस्तकें अत्यन्त प्राचीन एवं ज्ञान का भंडार हैं। यूं तो अनेक मनीषियों ने काल से संबंधित अपने विचारों को उद्धृत किया है अपने प्राचीन ग्रन्थों में। यहां मैं वाराहमिहिर द्वारा रचित वृहद संहिता एवं महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद् भागवत के आधार पर काल से संबंधित तथ्यों को दर्शा रहा हूं जो भारतीय वांग्मय के प्रतिनिधि ग्रन्थों के रूप में काल निर्णय के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व करते हैं।

वाराहमिहिर द्वारा रचित वृहत्संहिता के सांवत्सरसूत्राध्याय नामक द्वितीय अध्याय में बहुत ही परिष्कृत रूप में काल एवं काल खण्डों के सम्पूर्ण स्वरूप का वर्णन किया गया है। जैसे युग, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात, प्रहर, मुहुर्त, घटी, पल, प्राण और तूरि। वाराहमिहिर ने संपूर्ण काल को महाप्रलय के पश्चात चार युगों में बांटा है। इन चार युगों का सम्मिलित मान तैंतालिस लाख बीस हजार वर्षों का है। इसका दसवां हिस्सा अर्थात् 4 लाख 32 हजार वर्ष का कलियुग का मान है। द्वापर युग का मान कलियुग का दोगुना अर्थात् 8 लाख 64 हजार वर्ष होता है। त्रेता युग का मान कलियुग के मान का तीन गुना अर्थात् 12 लाख 96 हजार वर्ष निकलता है। सतयुग का मान कलियुग के मान का 4 गुना होता है अर्थात् 17 लाख 28 हजार वर्ष।

वाराहमिहिर ज्योतिष के प्रकांड पंडित थे। उनके अनुसार मेष राशि से आरंभ कर मीन राशि तक भ्रमण के दौरान सूर्य जितना समय लेता है उसे सौर वर्ष कहते हैं। सौर वर्ष का मान 365 दिन और 15 घड़ी से कुछ अधिक होता है। आज के इस वैज्ञानिक युग में भी सौर वर्ष का यही मान स्वीकृत है। आश्चर्य लगता है कि सैंकड़ों वर्ष पूर्व जब कोई समय मापक यंत्र नहीं था, कोई अत्याधुनिक पारमाणविक घड़ी नहीं थी तब भी वाराहमिहिर ने इतनी सटीक गणना कैसे की। वाराहमिहिर ने छः ऋतुओं, ऋतु परिवर्तनों तथा चन्द्रमास के विषय में भी अच्छी जानकारी दी है। उनके अनुसार यदि सूर्य मकर से मिथुन तक रहता है तो उसे उत्तरायण एवं कर्क से धनु राशि तक रहता है तो उसे दक्षिणायन कहते हैं।

काल निर्णय के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण स्थान श्रीमद् भागवत महापुराण को है। श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में कालनिर्णय में काल के सूक्ष्मतिसूक्ष्म स्वरूप का

वर्णन किया गया है। इसके अनुसार कार्य संपादन सम्पन्न वस्तुओं में कार्य वर्ग का जो सूक्ष्मतम रूप है जिसका और विभाजन नहीं हो सकता, जो अपने स्वतंत्र रूप में विद्यमान रहता है और जिसका अन्य परमाणुओं से संबंध भी नहीं होता उस सूक्ष्मतम पदार्थ के अंश को परमाणु कहते हैं। उन परमाणुओं के परस्पर संयोग के प्रतिपल को हम वस्तु या पदार्थ की संज्ञा देते हैं। यथा—

चरमः सद्विशेषणामने ओअ्संयुतः सदा,.

परमाणुः स विज्ञेयो नृणामक्यभ्रमोयतः।

काल की सूक्ष्मता और स्थूलता का अनुमान किया जा सकता है जो काल प्रपंच की परमाणु जैसी सूक्ष्म अवस्थाओं में व्याप्त रहता है वह अत्यंत सूक्ष्म काल है। जो काल सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त अपनी सभी अवस्थाओं को भोग करता है वह परम महान है। यह काल ही परिस्थितियों का निर्णायक है और सभी वस्तुएं काल सापेक्ष हैं।

यह सचमुच चमत्कार की बात है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों ने परमाणु वस्तु और वस्तु की समस्त अवस्थाओं के निर्माण, उनमें परिवर्तन तथा उनके विघटन की इतनी सटीक जानकारी प्राप्त कर ली थी जिसकी जानकारी हमें हजारों वर्ष बाद आधुनिक विज्ञान में डाल्टन के परमाणु सिद्धांत, एवोगैड्रो की चिन्ताधारा या लार्ड रदरफोर्ड के परमाणु से संबंधित सूत्रों में मिलती है जो आधुनिक विज्ञान के नाभिकीय के आधार हैं तथा आधुनिक विज्ञान की समस्त कारणों के निराकरण करने की सशक्त विधा है। बात चाहे विद्युत, इलेक्ट्रानिक्स या परमाण्विक आयुधों, अंर्तग्रहीय संचार व्यवस्था या सदर्शन जैसे लोकप्रिय अत्याधुनिक की ही क्यों न हो।

तो हम चर्चा कर रहे थे श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित काल की, जिसके अनुसार दो परमाणु मिलकर एक अणु का निर्माण करते हैं और तीन अणुओं को मिलने से एक त्रसरेणु बनता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य की किरणों को जितना समय लगता है उसे त्रुटि कहते हैं। इसका सौ गुना काल वेध कहलाता है। तीन वेध का एकलव और तीन लव का एक निमेष तथा तीन निमेष को एक क्षण कहते हैं।

पांच क्षण की एक क़ाष्ठा होती है और पन्द्रह काष्ठा का लघु, पन्द्रह लघु की एक नाडिका होती है जिसे दण्ड कहा जाता है। दो दण्ड का एक मुहुर्त होता है। मनुष्य के दिन या रात के चौथे भाग को साम कहते हैं जो प्रहर भी कहलाता है और इसका मान छः या सात नाडिका का होता है, दिन रात घटने-बढ़ने के अनुसार दोनों संधियों के दो मुहुर्तों को छोड़कर इस प्रकार के चार-चार प्रहर मनुष्यों के दिन और रात होते हैं। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष होता है जो शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का माना गया है। इन पक्षों को मिलाकर एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु और छः मास का एक अयन होता है। अयन के दो प्रकार है उत्तरायण और दक्षिणायन जो सूर्य के पृथ्वी के सापेक्ष भ्रमण के संक्रांति काल माने जाते हैं। इन दोनों अयनों को मिलाने से पृथ्वी लोक का एक वर्ष होता है (अन्य-अन्य ग्रहों के वर्षों का मान अलग अलग होता है यह

जानकारी उस काल में थी इससे यही सिद्ध होता है) इस वर्ष को विभिन्न नामों से जाना जाता है जैसे-संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और सत्सर जो सूर्य, वृहस्पति, पवन, चन्द्रमा और नक्षत्र संबंधी महीनों के भेद से होता है। एक दिव्य अर्थात् देवताओं का वर्ष मनुष्यों के 360 वर्षों के बराबर होता है। इस प्रकार कलयुग में 432000 वर्ष होते है और इससे दोगुने द्वापर में, तीगुने त्रेता और चारगुने सतयुग में होते हैं। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा एक दिन में सृष्टि करते हैं तथा एक रात शयन करते हैं। यह सृष्टिकाल चार युगों के सम्मिलित वर्षों के लोगों का एक हजार गुना होता है। शयन काल का पूरा योग भी इतना ही होता है अर्थात् एक सहस्त्र चतुर्युगी का। शयन काल के अन्त के पश्चात् पुनः सृष्टि का आरंभ होता है जिसे कल्पांश्च कहते हैं। यह कल्प सृष्टि के अंत तक चलता रहता है। इस सम्पूर्ण सृष्टिकाल अर्थात् कल्प को 14 भागों में विभक्त किया गया है जिसके प्रत्येक भागों के प्रथम पुरुष को मनु कहते हैं। ब्रह्मा का यह दिन समाप्त होते ही सारी सृष्टि ब्रह्मा में लीन हो जाती है और प्रलय काल आ जाता है। ब्रह्मा जी की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। ब्रह्मा की आयु के आधे भाग को परार्ध कहते हैं। अब तक पहला पहला परार्ध बीत चुका है और दूसरा चल रहा है। अभी जो कल्प चल रहा है वह दूसरे परार्ध का आरंभिक कल्प है। इस प्रकार से सृष्टि और प्रलय काल का क्रम क्रमशः चलते रहता है अर्थात् ब्रह्मा का एक दिन और एक रात।

अब आइये प्राचीन भारतीय काल सूचक विभाजन तथा आज के आधुनिक काल में समय के मान का तारतम्य क्या है देखें :

2.5 विपल = 1 सेकेन्ड

2.5 पल = मिनट

2.5 घड़ी = 1 घंटा

60 घड़ी = 24 घंटा या 1 अहोरात्रि

30 अहो रात्रि = 1 महीना

12 अहोरात्रि = चन्द्रवर्ष

360 अहोरात्रि = 1 सावन वर्ष

361 महारात्रि = 1 वृहस्पति वर्ष

365 अहोरात्रि = 1 सौर वर्ष

1728000 सौर वर्ष = 1 सतयुग की अवधि

1296000 सौर वर्ष = 1 त्रेतायुग की अवधि

864000 सौर वर्ष = 1 द्वापर युग की अवधि

432000 सौर वर्ष = 1 कलियुग की अवधि

4320000 सौर वर्ष = 1 महायुग

71.43 महायुग = 1 मनवन्तर

1000 महायुग = 1 ब्रह्मादिन (कल्प) सृष्टिकाल = 14 मनवन्तर

1000 महायुग = 1 ब्रह्मरात्रि = प्रलय काल

2000 महायुग = 1 ब्रह्मअहोरात्रि (ब्रह्मा के एक दिन और एक रात का योगफल)

360 ब्रह्मअहोरात्रि = ब्रह्मवर्ष

100 ब्रह्मवर्ष अर्थात् सृष्टिकर्ता की आयु

प्रत्येक पल के चार भाग होते हैं। अर्थात् सृष्टि के चार चरण होते हैं जिसमें प्राणियों का क्रमशः विकास होता है पहला चरण ब्रह्मकल्प था जिसमें सृष्टि शब्दमयी अर्थात् ध्वनि शक्ति से परिपूर्ण थी। दूसरे चरण में पाद्धमकल्प था जिसमें जल का निर्माण एवं जलीय पदार्थों तथा जीवों का विकास हुआ। तृतीय अर्थात् वर्तमान कल्प वाराह कल्प है। चतुर्थ संभवतः क्रमशः विकास की पराकाष्ठा होगी जिसमें अंतग्रहीय यातायात एवं संचार व्यवस्था तथा परमानवीय गुणों से संपन्न जीवों का विकास एवं तत्पश्चात प्रलय होगा।

इस प्रकार भारतीय वांग्मय के अनुसार सृष्टि की पूरी आयु—4320000000 वर्ष है। अब आइए देखते हैं कि इस वाराहकल्प में सृष्टिकर्ता के एक दिन के कितने सौर वर्ष बीत चुके हैं :

पहला परार्ध जो बीत चुका है =	2160000000 वर्ष
सतयुग	1728000 वर्ष
त्रेतायुग	1296000 वर्ष
द्वापर युग	864000 वर्ष
कलयुग	5098 वर्ष
कुल योग	2163893098 वर्ष

अर्थात् वर्तमान सृष्टि में से अब तक 2163893098 वर्ष बीत चुके हैं और यह काल सृष्टि के आरंभ से अब तक का बीत चुका काल है जिसमें पहले परार्ध के 2160000000 वर्ष एवं दूसरे परार्ध के 3893098 वर्ष बीत चुके हैं।

आज के युग में सबसे विश्वसनीय समय सूचक यंत्र परमाणु घड़ी है जिसमें समय की सत्यता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। क्या यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात नहीं है कि

श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित समय की सूक्ष्मता ईकाई (वह काल समय जिसे सूर्य की किरणें तीन त्रसरेणुओं अर्थात छः परमाणुओं को भेदकर पार कर जाती है।) एक परमाणु पर आधारित समय सूचक किसी संभावित यंत्र के आधार की ही सूचना देती है और यही कारण है कि आधुनिक गणक यंत्रों और सूत्रों के सहारे तरह-तरह के विश्लेषण कर पृथ्वी या ब्रह्माण्ड के निर्माण के संभावित काल का निर्णय भी करीब-करीब वही किया गया है जो हमारे वांग्मय में हजारों वर्ष पहले अंकित किया जो चुका है। यह निर्विवाद सत्य है कि ईसा से हजारों वर्ष पूर्व भारत में ज्योतिष विज्ञान का समुचित विकास हो चुका था जिसकी झांकी हमें रामायण या महाभारत में वर्णित प्रमुख घटनाओं को ग्रहण, ग्रहों एवं नक्षत्रों के अवस्थान के साथ दिग्दर्शित कराया गया है। बाइबिल में भी यह वर्णित है कि स्वयं ईसा के जन्म के अवसर पर पूर्व से (भारत से) ज्योतिषियों की एक टोली बैथलहम गई थी किन्तु यह विचित्र विडंबना है कि हम पश्चिमी विद्वानों की मान्यताओं और उनकी कपोल कल्पना को तो सत्य स्वीकार कर लेते हैं लेकिन अपनी संस्कृति, सभ्यता, साहित्य एवं प्राचीन विज्ञान एवं इन पर आधारित मान्यताओं को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक कि उन पर विदेशी विशेषकर पश्चिम विद्वान या किसी पश्चिम संगठन की मुहर न लग जाती। भारतीय वांग्मयों में वर्णित काल (समय) के बारे में उल्लिखित तथ्यों आदि पर भी यही बात लागू होती है यही हमारी धारणा है, पता नहीं आप हमसे इस संबंध में कहां तक सहमत हैं।

मंडल यांत्रिक अभियंता, दक्षिण पूर्व रेलवे, बिलासपुर

कैंसर-एक जानलेवा रोग

—डा० एच० एन० यादव

इक्कीसवीं सदी के आगमन के साथ-साथ यह प्रश्न जोरों से उछाला जा रहा है कि क्या अब मानव की औसत आयु 150 वर्ष होगी। संक्रमित रोग यथा हैजा, प्लेग, मलेरिया, कालाजार, निमोनिया, क्षयरोग, अतिसार वगैरह पर नियंत्रण के साथ-साथ समृद्ध जीवन स्तर के फलस्वरूप उपरोक्त अवधारणा को बल मिला है। परन्तु इस उत्साह जनक परिदृश्य के नेपथ्य में (एक) जो डरावनी छाया रह-रह कर उभरती नजर आती है वह है कैंसर का बढ़ता कदम। विगत पांच दशक में कैंसर के प्रकोप में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। अगर कैंसर प्रकोप की गति यही रही तो निकट भविष्य में यह प्रथम जानलेवा रोग हो जाएगा।

कैंसर की उत्पत्ति अंग्रेजी शब्द क्रेब (Crab) यानी केकड़ा से हुई है। जिस प्रकार केकड़ा के पांव में चौतरफा नुकीले चंगुल होते हैं उसी तरह कैंसर शरीर के उत्तक में चौतरफा आक्रमण करता है। भारतीय पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि देवताओं के चिकित्सक जुड़वें भाई अश्विनी कुमार को कैंसर के बारे में जानकारी थी तथा वे शल्य क्रिया द्वारा कैंसर युक्त मानव अंगों को काटने छांटने में दक्ष थे। उनको यह ज्ञान परमपिता ब्रह्मा के पुत्र दक्ष प्रजापति से प्राप्त हुआ था।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार चिकित्सा विज्ञान के पिता हिपोक्रेट्स (460-375 बी.सी.) ने सर्वप्रथम कैंसर के लक्षणों का विस्तृत विवरण किया। इटली के चिकित्सक वर्नारडिनों रामाजिन्नी ने 1700 ई० में यह पता लगाया कि नन दूसरी महिलाओं की अपेक्षा स्तन कैंसर से अधिक पीड़ित होती हैं। इसके विपरीत वे गर्भाशय ग्रीवा कैंसर से मुक्त होती हैं क्योंकि वे आजीवन अविवाहित रहती हैं। अंग्रेज सर्जन परसीभल पौट्ट (1775) ने यह पता लगाया कि चिमनी राख साफ करने वाले आंड़ (Scrotal) कैंसर से अधिक पीड़ित होते हैं। क्रमश: यह जानकारी मिलती गई कि कल-कारखानों के कर्मी विभिन्न कारणों से कैंसर से अधिक पीड़ित होते हैं। मान सोमरिंग (1775) के इस कथन ने कि "ओंठ कैंसर पाइप पीने वालों में अधिक होता हैं" धूम्रपान की ओर चिकित्सकों का ध्यान आकृष्ट किया।

कैंसर के प्रमुख कारण :

1. **भौगोलिक :**—कैंसर का भौगोलिक परिदृष्य भी कम दिलचस्प नहीं है। उदाहरणार्थ चीन में ग्रासिका कैंसर अधिक होता है जबकि अमाशय कैंसर भारतीय उपमहाद्वीप, जापान, स्केनडिनेवियन प्रदेश, चीली एवं आइसलैंड में अधिक होता है। अफ्रीकी देशों में यकृत और मिश्र में मूत्राशय कैंसर का प्रकोप सर्वाधिक है। भारतीय उपमहाद्वीप में ओठ एवं मुख कैंसर का प्रकोप भयानक रूप में है क्योंकि यहां के निवासियों में

तम्बाकू (खैनी) चबाने की आदत अत्यधिक है। उन्नतशील पश्चिमी देशों की महिलाओं में स्तन कैंसर अधिक होता है जबकि यहूदियों में गर्भाशय कैंसर का प्रकोप निम्नतम है।

2. **नस्ल :**—काले और गोरे नस्ल के लोग भी भिन्न-भिन्न किस्म के कैंसर से आक्रान्त होते हैं। उदाहरणार्थ श्वेतों में चर्म कैंसर अधिक होता हैं जबकि अश्वेत अपने चमड़ों में मेलेनिन नामक कण के कारण कम पीड़ित होते हैं। इसी वजह से श्वेतों की औरतों में मेलोनोमा नामक कैंसर अधिक होता है। उनके बच्चे भी कैंसर से अधिक पीड़ित होते हैं। अपवाद में आंख का रेटिनाब्लास्टोमा है जो अश्वेत बच्चों में अधिक होता है। बुक्टिस लिम्फोमा का प्रकोप अफ्रीका के ग्रोज में अधिक है जबकि बड़ी आंत कैंसर एवं रक्त कैंसर श्वेतों में अधिक होता है।

3. **उम्र :**—कैंसर के प्रकोप में उम्र की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। कारशीनोमा अधिक उम्र में और सारकोमा कम उम्र (बच्चों, युवाओं) के कैंसर हैं। रेटिनोब्लास्टोमा, विल्मस ट्यूमर, इवींग्स सारकोमा, हौजकींस तथा नन-हौजकींस लिम्फोमा बच्चों और युवाओं के कैंसर हैं। रक्त कैंसर (ल्यूकिमिया) हर उम्र में होता है।

4. **लिंग भेद :**—महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों में कैंसर अधिक होता है क्योंकि उनके कार्यक्षेत्र घर से बाहर होने के कारण वे प्रदूषित पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। इसी तरह लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में कैंसर का अधिक प्रकोप है। भोजन नली, यकृत, फेफड़ा, स्वर-यंत्र, मुंह, गुर्दा, मुत्राशय कैंसर पुरुषों में अधिक होते हैं जबकि पित्तथैली कैंसर महिलाओं में।

5. **सामाजिक एवं आर्थिक स्तर :**—असंतुलित आहार अस्वास्थ्यकर जीवन शैली एवं बुरी आदतों (तम्बाकू चबाना, ताड़ीपान, धूम्रपान) के कारण निम्न वर्ग के लोग कैंसर से अधिक अक्रान्त होते हैं।

6. **व्यवसाय एवं धंधा :**—अनेक कैंसर धंधे से सम्बन्धित हैं। चमड़े, पेट्रोलियम, रासायनिक, कीटनाशक दवाएं जहाज निर्माण जैसे उद्योगों से जुड़े लोगों में कैंसर का प्रकोप अत्यधिक है। एसबेस्टॉस, क्रोमियम, निकेल, आरसेनिक, पोलीसायक्लीक हाइड्रोकार्बन्स व्यवसाय के कर्मचारी फेफड़ा कैंसर से अधिक आक्रांत होते हैं क्योंकि इन कारखानों से विसर्जित कैंसर जनक गैसें श्वास द्वारा उनके फेफड़ों में पहुंचती रहती हैं।

7. **तम्बाकू सेवन :**—तम्बाकू सेवन कैंसर का प्रमुख कारण है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार 30 प्रतिशत कैंसर तम्बाकू सेवन से होता है। तम्बाकू सेवन मुख्यतः दो प्रकार के हैं—खैनी और जरदा चबाना तथा बीड़ी और सिगरेट पीना। कुछ लोग नाक में तम्बाकू से बना "नस" (*Snuff*) लेने के आदी होते हैं। खैनी का गोला ओठ

एवं मसूढ़ों के बीच घण्टों पड़ा रहता है और तम्बाकू रस-युक्त लार जीभ एवं ग्रास नली के सम्पर्क में आने के पश्चात् घोटा जाता है। लम्बे अर्से तक इस प्रक्रिया के कारण ओठ एवं मुंह की सतह, जीभ तथा ग्रासनली की सतह में सूजन आ जाती है जो कालांतर में कैंसर घाव या अल्सर में परिवर्तित हो जाती है। धूम्रपान से तम्बाकू का धुआं स्वर-यंत्र से होते हुए फेफड़े में प्रवेश पाता है जहां से वह रक्त में घुलते रहता है। फलतः स्वर-यंत्र, फेफड़ा, मूत्राशय, पेन्क्रीयाज इत्यादि का कैंसर होने का खतरा अत्यधिक हो जाता है। फेफड़ा कैंसर धुम्रपान करने वाले व्यक्ति में अधूम्रपानी व्यक्ति की तुलना में 30 गुना अधिक होता है। इसी तरह मूत्राशय तथा पैन्क्रीयाटिक (आग्नेशाय ग्रंथी) कैंसर का खतरा धूम्रपानी व्यक्ति में दो गुणा अधिक होता है।

8. **प्रदूषित भोज्य पदार्थ एवं भोजन शैली :**—औसतन मांसाहारी व्यक्ति शाकाहारी व्यक्ति की अपेक्षा कैंसर से अधिक पीड़ित होते हैं। उदारहणार्थ यकृत (Liver) तथा बड़ी आंत का कैंसर मांसाहारी में अधिक होता है। मांस, मछली एवं अंडे पचने में अधिक समय लेते हैं। उनके लम्बी पाचन-क्रिया के क्रम में उनसे उत्पन्न विषैले रस के कुप्रभाव से यकृत कोशिकाएं क्षतिग्रस्त होती हैं। प्रस्कृत भोज्य पदार्थ रेशेहीन (Fibre poor) होने के कारण बड़ी आंत (Colon) के कैंसर के जनक माने गए हैं। इसी तरह चर्बीयुक्त चटपटी मसालेदार भोजन भी कैंसर कम खतरनाक नहीं है। "फास्ट फूड" संस्कृति भी कैंसर के प्रकोप में वृद्धि के लिए जिम्मेवार है। डिब्बा बंद भोज्य पदार्थ लम्बे अरसे तक सुस्वादिष्ट रखने के लिए खतरनाक कैंसर जनक तत्व मिलाकर तैयार किए जाते हैं। मिठाई, टॉफी, चॉकलेट, आइसक्रीम, पेय पदार्थ वगैरह को आकर्षक बनाने के लिए उसमें कई रंग एवं एसेंस मिलाए जाते हैं जो कैंसर के सिद्ध कारक हैं। हरित क्रांति के क्रम में पैदावार बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर रासायनिक खाद एवं रासायनिक दवाओं का प्रयोग किया जा रहा है। सब्जी और फल को कीटाणुओं से बचाने के क्रम में उनपर कई बार विषैले दवाओं का छिड़काव किया जाता है। उन्हें कल कारखानों से विसर्जित जल से सींचा जाता है। फलतः ऐसी हरी सब्जी एवं फल भी कैंसर कारक सिद्ध हो रहे हैं।

9. **विषाणु (*Virus*) संक्रमण :**—कुछ विषाणु ऐसे हैं जो कैंसर कारक सिद्ध हो चुके हैं। पैपीलोमा वायरस संक्रमण से औरतों में गर्भाशय (*Cervical*) कैंसर होता है । मुख एवं स्वरयंत्र कैंसर में भी पैपीलोमा वायरस की भूमिका है। इसी तरह इप्सटीन-बार वायरस (*EBV*) संक्रमण से चार तरह के कैंसर हो सकते हैं यथा हाजकीन्स डीजीज, बरकीट लिम्फोमा, बी-सेल लिम्फोमा तथा नासिका कैंसर। हेपेटायटीश बी वायरस संक्रमण यकृत कैंसर का प्रमुख कारण है। ल्यूकिमिया (रक्त कैंसर) भी वायरस संक्रमण से होता है। एच.आई.वी. (*HIV*)संक्रमण यानी एड्स के मरीजों में कई तरह के कैंसर हो रहे हैं।

10. **यौन संबंध एवं प्रजनन :** कम उम्र से यौन संबंध, अधिक यौन प्रक्रिया, अधिक बच्चे तथा एक से अधिक पुरुषों से यौन संबंध गर्भाशय ग्रीवा कैंसर के प्रमुख कारण हैं। अविवाहित औरतों में स्तन कैंसर अधिक होता है। अधिक मैथुन प्रक्रिया से पौरुष ग्रंथी (Prostate) कैंसर हो सकता है। पुरुषों के लिंग पर जमा इस्मेगमा भी गर्भाशय कैंसर का कारण माना गया है।

11. **रेडियोधर्मिता :**—रेडियोधर्मिता कैंसर के प्रमुख कारणों में से एक है। हिरोशिमा एवं नागासाकी के नागरिक जहां 1945 में अणुबम गिराया गया था अभी तक ल्युकिमिया, स्तन, बड़ी आंत, थायराइड, फेफड़े एवं चर्म कैंसर से पीड़ित हो रहे हैं। रेडियम के आविष्कारक मैडम क्यूरी का देहांत कैंसर से हुआ। एक्सरे मशीन, अणु प्रतिष्ठान वगैरह के कर्मी अधिक संख्या में कैंसर के शिकार हो रहे हैं। घड़ी में रेडियम पेंट का व्यवहार इसलिए बंद करना पड़ा क्योंकि इसके कर्मी कैंसर के शिकार होने लगे।

12. **अनुवांशिक कैंसर :**—कई तरह के कैंसर पीढ़ी दर पीढ़ी होते हैं। उदाहरणार्थ स्तन कैंसर, आंख में रेटिनोब्लास्टोमा, बड़ी आंत का कैंसर, ओभेरियन कैंसर, फेफड़े का कैंसर, ब्रेन कैंसर परिवार में कई पीढ़ी में देखे गए हैं। स्तन कैंसर से पीड़ित मां की बेटी में दो से तीन गुणा स्तन कैंसर होने का खतरा रहता है। गुणसूत्र दोष के कारण अनुवांशिक कैंसर होते हैं।

कैंसर के लक्षण :

भिन्न-भिन्न अंगों एवं अवयवों के कैंसर के लक्षण भी विभिन्न तरह के होते हैं। कुछ कैंसर ऐसे हैं जो लंबे अरसे तक या तो लक्षण विहीन होते हैं या उनके लक्षण काफी मुलायम एवं कमजोर होते हैं। फलस्वरूप चिकित्सक उन्हें चिह्नित नहीं कर पाते हैं। उदाहरणस्वरूप फेफड़ा, यकृत, गुर्दा, भोजन नली, स्तन, गर्भाशय, नेत्र, नासिका, वगैरह के कैंसर प्रारंभिक महीनों एवं वर्षों में लक्षण विहीन रहते हैं। इसके विपरीत चर्म, ओठ, मुंह, जीभ वगैरह के कैंसर आसानी से प्रारंभिक अवस्था में ही पकड़ में आ जाते हैं। कुछ कैंसर ऐसे हैं जिनका पता सामान्य रक्त जांच एवं एक्सरे से लगाया जा सकता है जैसे हाजकिंस डिजीज, ल्यूकिमिया, हड्डी कैंसर, थायराइड कैंसर इत्यादि। कैंसर के कुछ लक्षण ऐसे हैं जो सामान्य रूप से कमोबेश सभी तरह के कैंसर में परिलक्षित होते हैं। सामान्य लक्षण निम्नांकित हैं :—

1. **अस्वस्थता**—कैंसर के रोगी अपने को पूर्व की भांति सहज नहीं महसूस करते हैं। उनको इस तरह का अंदेशा रहता है कि स्वास्थ्य में कहीं कुछ गड़बड़ी हो रही है जिसे वे स्पष्ट नहीं बता पाते।

2. **भूख की कमी**—उनकी भोजन की इच्छा मंद पड़ने लगती है तथा भोज्य सामग्री उन्हें पूर्व की भांति रुचिकर नहीं लगता है।

3. **पाचन क्रिया की गड़बड़ी**—"कभी कब्ज कभी दस्त" की शिकायत होने लगती है।

4. मिचली एवं कै तथा डकार की शिकायत।

5. **पीड़ा**—पेट में पीड़ा, सीने में दर्द, हड्डी में दर्द, सर दर्द।

6. **ज्वर**—शरीर में कपकपी (Shivering) से लेकर तेज बुखार का दौरा समय-समय पर आना।

7. **रक्ताल्पता**—रक्त में हिमोग्लोबिन की कमी के कारण चेहरे की रौनक जाती रहती है तथा शरीर हल्का पीला दिखता है।

8. भोजन निगलने में कठिनाई।

9. **खांसी**—बार-बार खांसी का दौरा आना।

10. वजन में तेजी से गिरावट।

11. अतिशय शारीरिक दुर्बलता एवं कमजोरी।

अंग विशेष लक्षण :

1. **फेफड़ा कैंसर**—खांसी, बलगम आना जो रक्तरंजित हो सकता है, खांसते-खांसते अधिक मात्रा में ताजा रक्त आने की शिकायत, सीने में दर्द, स्वास में कठिनाई एवं दम फूलने की शिकायत तथा वजन में तेजी से गिरावट।

2. **यकृत कैंसर**—मन्द भूख, अस्वस्थता, कमजोरी, ज्वर, पेट में दर्द, पीलिया तथा पेट में पानी जमा होना (Ascites)।

3. **पीत्ताशय कैंसर**—40-50 वर्ष की मोटी एवं कई बच्चों को जन्म देने वाली महिलाओं में अधिक होता है। डकार, पेट के ऊपरी भाग (दाहिनी तरफ) दर्द, दाहिने कंधे में दर्द तथा पीलिया इसके प्रमुख लक्षण हैं।

4. **गले का कैंसर**—लार घोंटने में थोड़ी असुविधा, कांटे की चुभन का एहसास, भोजन निगलने में कठिनाई, कान में दर्द वगैरह इसके प्रमुख लक्षण हैं।

5. **जिह्वा कैंसर**—मुंह से लार गिरना, आवाज में बदलाव, कान में दर्द तथा भोजन घोटने में असुविधा।

6. **भोजन नली (Oesophagus) कैंसर**—भोजन निगलने में रुकावट एवं खाने के क्रम में बार-बार पानी पीना, गले के निम्न भाग एवं छाती में भोजन करते समय पीड़ा।

7. **अमाशय कैंसर**—भूख का मंद पड़ना, ढकार, पेट हमेशा भरा रहने का अहसास।

8. **बड़ी आंत का कैंसर**—बराबर कब्ज तथा कभी-कभी दस्त। पेट में अक्सर पीड़ा एवं मरोड़ (Colic pain), रक्त मिश्रित पैखाना।

9. **मूत्राशय एवं मूत्र नली कैंसर**—पेशाब में खून आना, पेशाब करने की बार-बार इच्छा, पेशाब करते वक्त जलन एवं पीड़ा तथा पेशाब में रुकावट।

10. **गर्भाशय कैंसर :**—रक्त स्राव, दुर्गन्धयुक्त स्राव, पेट में दर्द।

11. **स्तन कैंसर :**—स्तन में गांठ तथा गांठ के आकार में निरंतर वृद्धि।

12. **रक्त कैंसर (ल्यूकिमिया) :**—मसूड़े से खून आना, चमड़े पर मच्छर काटने जैसा लाल बिंदु (Petechial haemorrhage), कमजोरी, बीच-बीच में ज्वर, रक्ताल्पता, यकृत, प्लीहा एवं ग्रंथियों का बड़ा होना।

13. **हड्डी कैंसर**—रात में हड्डी में दर्द तथा हड्डी पर गांठ उभरना, अकारण हड्डी टूटना।

14. **मस्तिष्क कैंसर**—सिर में भीषण पीड़ा, सुबह में उल्टी, चक्कर आना तथा दृष्टि क्षीणता इसके प्रमुख प्रारंभिक लक्षण हैं।

कैंसर की पहचान (Diagnosis) :

1. एक्स-रे—फेफड़े के कैंसर में फेफड़े में सिक्कानुमा दाग (Coin shadow)। हड्डी कैंसर, मस्तिष्क कैंसर, गुर्दा, मूत्राशय कैंसर एवं पीत्ताशय कैंसर की पहचान भी एक्स-रे द्वारा हो सकती है।

2. रक्त में अल्कलाइन तथा एसिड फौसफेटेज की मात्रा क्रमशः यकृत कैंसर एवं पौरुष ग्रंथि कैंसर में अधिक हो जाती है।

3. अल्ट्रासोनोग्राफी—अल्ट्रासोनोग्राफी के द्वारा यकृत, पीत्ताशय, गुर्दा कैंसर की पहचान आसानी से हो सकती है।

4. कैट स्केनिंग—यह मस्तिष्क कैंसर में विशेष रूप से उपयोगी है। दूसरे तरह के कैंसर में भी कैट स्केनिंग सहायक सिद्ध हो रहा है।

5. मैग्नेटिक रिजोनेंस इमेजिंग (MRI)—यह एक खर्चीली परन्तु उपयोगी कैंसर जांच प्रक्रिया है।

6. एक्फोलियेटिभ सायटोलौजी—एक्सफोलियेटिभ सायटोलौजी द्वारा गर्भाशय, यौन, फेफड़ा, अमाशय, भोजन नली, गले के कैंसर की पहचान की जाती है।

7. पैप टेस्ट—इस विधि से गर्भाशय ग्रीवा एवं प्रसूति मार्ग कैंसर (Cervical & Vaginal Cancer) की पहचान होती है।

8. बायोप्सी—कैंसर गांठ या घाव का छोटा सा भाग काटकर जांच की जाती है। यह सबसे विश्वसनीय जांच है।

9. मौलेक्यूलर जाच विधि—कोशिकाओं में गुणसूत्र की विकृति, रक्त में वायरस, प्रतिपिंड (Antibodies), डी.एन.ए. तथा आर.एन.ए. इंडक्श, पौलीमरेज चेन रियक्शन (PCR), ट्यूमर प्रतिपिंड (Tumour antigen) जैसी जांच प्रक्रिया विशेष प्रयोगशाला में हो सकती है।

कैंसर से बचाव :

अब लाख टके का प्रश्न "क्या हम कैंसर से बच सकते हैं"। जी हां, बशर्ते निम्नांकित सुझावों पर ध्यान दें।

1. तम्बाकू त्याग : धूम्रपान, खेनी, पान-मसाला, गुटका, शिखर से परहेज।

2. कैंसर कारक तत्व मिश्रित लुभावनी "फास्ट फूड", रंगयुक्त मिठाई, चॉकलेट, लौजेंज एवं आकर्षक पेय पदार्थों से दूर रहें।

3. शराब पीना बंद करें। शराब-सिगरेट की आदत "एक करेली अपने तीती दूजे नीम-चढ़ी" वाली कहावत को चरितार्थ करती है।

4. पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करें।

5. भोजन—भोजन में हरी रेशेदार सब्जी एवं ताजे फल बराबर लें। प्रस्कृत भोज्य सामग्री (Refined food) डिब्बा बंद खाद्य पदार्थ, तेलीय चटपटी मसालेदार भोज्य-पदार्थ से परहेज करें क्योंकि ऐसे भोज्य पदार्थ बराबर खाने से बड़ी आंत, अमाशय, यकृत एवं स्तन कैंसर होने का खतरा बढ़ जाता है। जहां तक हो शाकाहारी रहें। मांसाहारी व्यक्ति अधिक संख्या में कैंसर से आक्रांत होते हैं।

6. गर्भ-निरोधक गोली से परहेज। गर्भ निरोधक दवाओं से महिला में स्तन और यकृत कैंसर होता है।

7. महिला विवाहित हों परन्तु दो से अधिक बच्चे पैदा नहीं करें। कम उम्र में यौन संबंध एवं अधिक यौन संबंध से बचें। एक से ज्यादा पुरुष से यौन संबंध खतरनाक है।

8. दवा—दर्द निवारक गोली, क्लोरमफेनिकौल, संखिया (Arsenic), एंड्रोजन एनाबोलिक स्टेराइड, प्रतिरक्षण क्षमता कम करने वाली दवाओं से परहेज करें। इन दवाओं से स्तन, यकृत, मूत्राशय, गर्भाशय कैंसर, ल्यूकिमिया एवं लिम्फोमा होने का खतरा पैदा हो जाता है।

9. विटामिंस—विटामिन ए, सी, ई तथा खनिज तत्व कैल्सियम, सेलेनियम युक्त गोली लें। उपरोक्त तत्व एंटीऔक्शीडेंट होने के कारण कैंसर कारक तत्वों से कोशिकाओं

को बचाते हैं। इनकी रक्षात्मक भूमिका फेफड़ा कैंसर तथा कुछ अन्य कैंसर के रोकथाम में सिद्ध हो चुकी है। वे कैंसर कोशिकाओं को पुनर्जीवित होने से रोकते हैं। बड़ी आंत कैंसर को रोकने में कैल्सियम की अहम भूमिका है।

10. अभी हाल में यह पता चला है कि सोयाबीन के कैंसर कारक तत्व को निरस्त करने की क्षमता है। इसलिए भोज्य पदार्थ में सोयाबीन को अवश्य अपनाएं।

11. पेट्रोलियम पदार्थ, बेंजीन, भिनाइल क्लोराइड, एसेबेस्टौस, चर्म उद्योग, कोलटार, रंग उद्योग तथा पेट्रोरासायनिक उद्योगों के कर्मी मास्क, ग्लोब्स, मौजा, जूता, एपरोन, सुरक्षात्मक चश्मा वगैरह पहनकर काम करें।

12. अणुप्रतिष्ठान घनी आबादी के क्षेत्र से अलग रहना चाहिए। इसी तरह, अणु बमों का प्रयोगात्मक विस्फोट या तो बंद हो अथवा इसे पूर्ण सुरक्षात्मक सावधानी के साथ किया जाए।

कैंसर चिकित्सा :

सर्वसाधारण में यह भ्रम है कि कैंसर लाइलाज रोग है तथा जिसको कैंसर हो गया उसकी अकाल मृत्यु निश्चित है। यह धारणा बिल्कुल भ्रामक एवं गलत है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इतनी प्रगति हुई है कि अब कैंसर लाइलाज कतई नहीं रहा। कैंसर की कारगर चिकित्सा में निम्नांकित सावधानी आवश्यक है :—

1. वर्षों से वर्तमान छोटी सी निरापद दिखनेवाली गांठ में अगर किसी तरह का परिवर्तन जैसे गांठ के आकार में तेजी से वृद्धि, उसका लाल हो जाना, उसमें पीड़ा को खतरे की घंटी समझें क्योंकि ये कैंसर के लक्षण हैं।

2. शरीर के किसी अंग में घाव (Ulcer) के भरने में अनावश्यक विलम्ब कैंसर का लक्षण है।

3. एंटीबॉयोटिक चिकित्सा के बावजूद अगर 15 दिन के उपरांत भी खांसी बनी रहती है तो छाती का एक्सरे एवं अन्य जांच के द्वारा फेफड़ा कैंसर की संभावना को दूर करें।

4. धूम्रपानी व्यक्ति की आवाज अगर रूखड़ा (Hoarseless of voice) हो जाए तो यह भी खतरे की घंटी है क्योंकि यह स्वरयंत्र कैंसर का प्रमुख लक्षण है।

5. 40 वर्ष की महिला के स्तन में छोटी सी गांठ भी कैंसर हो सकती है जिसको शीघ्रातिशीघ्र शल्य क्रिया द्वारा निकाल कर इसकी जांच कराएं।

6. मल-मूत्र त्याग में बढ़ते कब्ज या रुकावट होने पर शीघ्र जांच पूर्ण कराएं ताकि बड़ी आंत कैंसर और गुर्दा मूत्राशय कैंसर की पहचान प्रारंभिक अवस्था में ही हो तथा शल्य क्रिया की जा सके।

2614 H.A./2001—3A

7. कैंसरी सर्जरी—कैंसर शल्य क्रिया में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। प्रारंभिक अवस्था में कैंसर की शल्य चिकित्सा होने से कैंसर का जड़ से उन्मूलन पूर्णतया संभव है। शल्य क्रिया के उपरांत आवश्यकतानुसार रेडियोथैरेपी दी जानी चाहिए।

8. रेडियोथैरैपी—कैंसर चिकित्सा में रेडियोथैरैपी की अहम भूमिका है। औसतन 50 से 60 प्रतिशत कैंसर मरीज की चिकित्सा रेडियोथैरैपी द्वारा की जा रही है। ओठ, जीभ, मुख, ऊपरी गले तथा स्वरयंत्र कैंसर रेडियोथेरेपी द्वारा पूर्ण रूप से ग़ल जाता है तथा कैंसर के पुनर्जीवित होने की संभावना नहीं रहती है। हाजकींस डिजीज, सेमिनोमा, स्तन कैंसर, गर्भाशय ग्रीवा कैंसर तथा पौरूष ग्रंथी कैंसर में भी उत्साहजनक लाभ होता है । इसके विपरीत फेफड़ा कैंसर, भोजन नली कैंसर, अमाशय तथा बड़ी आंत कैंसर, यकृत कैंसर, पैंक्रीयाज कैंसर, गुर्दा एवं मूत्राशय कैंसर तथा मस्तिष्क कैंसर पर रेडियोथैरैपी का कोई असर नहीं होता है।

केमोथैरैपी : दवाओं द्वारा कैंसर चिकित्सा को केमोथैरैपी कहा जाता है। सर्जरी और रेडियोथैरैपी के अलाभप्रद होने की अवस्था में कैंसर कोशिकाओं को दवाओं द्वारा नष्ट किया जाता है।

इम्युनोथैरैपी : इस विधि में दवाओं द्वारा कैंसर मरीज की प्रतिरक्षण क्षमता बढ़ाई जाती है ताकि शरीर की लड़ाकू कोशिकाएं कैंसर कोशिकाओं से जूझ सकें।

सारांश :

कैंसर एक घातक रोग है। यह शरीर के किसी अंग को आक्रांत कर सकता है। कैंसर से सर्वाधिक आक्रांत होने वाले अंग हैं—यकृत, फेफड़ा, मुख तथा गले का ऊपरी भाग, बड़ी आंत, गुर्दा, आमाशय, पौरुष ग्रंथी, मस्तिष्क तथा रक्त। औरतों में स्तन एवं गर्भाशय कैंसर प्रमुख हैं। कैंसर प्रभावित अंग को क्षतिग्रस्त करने के अतिरिक्त यह लसीका एवं रक्तनली के द्वारा शरीर के कई अंगों में फैल जाता है तथा लाइलाज हो जाता है। पर्यावरण प्रदूषण, प्रदूषित भोज्य सामग्री, तंबाकू सेवन (धूम्रपान एवं खैनी, जरदा चबाना), फास्ट फूड एवं डिब्बा बंद प्रप्कृत खाद्य पदार्थ, शराब पीना, वायरस संक्रमण, गर्भ निरोधक गोली, अत्यधिक यौन प्रक्रिया एवं बार-बार गर्भाधारण इसके प्रमुख कारण हैं। अनुवांशिक कारण एवं गुणसूत्र दोष विशेष कारण हैं।

कैंसर से बचने के लिए विटामिन, रेशेयुक्त संतुलित आहार लें। फल एवं हरी सब्जी का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करें। तम्बाकू एवं शराब का पूर्णतया परित्याग करें। जहां तक हो शाकाहारी रहें तथा भोजन में सोयाबीन का प्रयोग करें। पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाएं। कैंसर पीड़ित व्यक्ति से सौहार्दपूर्ण एवं स्नेहयुक्त व्यवहार करें ताकि रोगी स्वयं को उपेक्षित न समझें।

संपादक, इंडियन जनरल ऑफ लाईफ एंड साइट, पी डी एम कॉलेज,दरभंगा।

2614 H.A./2001—3B

: सोरायसिस :

—डॉ० (श्रीमती) उमा सक्सेना

सोरायसिस शायद मनुष्य में पाए जाने वाले प्राचीनतम रोगों में से एक है। प्राचीन शब्द लेप्रा में सोरायसिस के अलावा अन्य कई रोग भी शामिल थे। गैलेन ने उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में इस रोग को अलग से पहचाना, उसके बाद ही इसे एक स्वतंत्र इकाई सोरायसिस के नाम से मान्यता मिली। यह त्वचा के आम रोगों में से एक है जोकि सारे संसार में पाया जाता है। अमरीका में 1 से 2 प्रतिशत आम जनता सोरायसिस ग्रस्त पाई गई है। विश्व आंकड़ों के अनुसार 1 से 3 प्रतिशत लोग सोरायसिस ग्रस्त रहते हैं। ठंडे प्रदेशों में इनका प्रकोप सबसे ज्यादा रहता है जैसे-जैसे भूमध्य रेखा की तरफ बढ़ते हैं सोरायसिस घटती जाती है। अस्पताल आंकड़ों के अनुसार इसका प्रचलन 0.8 से 5.6 प्रतिशत रहता है। अधिकतर लोगों में यह जीवन के दूसरे या तीसरे दशक में शुरू होती है, पर शुरूआत कभी भी हो सकती है। करीब 0.1 प्रतिशत बच्चों में भी सोरायसिस देखी गई है।

सोरायसिस क्या है ?

हमारी चमड़ी की ऊपरी सतह जिसे एपिर्डमिस कहते हैं, चार सूक्ष्म परतों की बनी होती है। सबसे निचली परत को बेसल लेयर कहते हैं। इस परत की कोशिकाएं जिन्हें बैसल सैल कहते हैं, लगातार बढ़ती रहती है और अंत में सबसे ऊपरी कर्नियल लेयर में बदल कर गिर जाती है। यह लगातार क्रिया इतने आराम से होती है कि हमें अहसास ही नहीं होता कि हमारी त्वचा का वह भाग लगातार छूट रहा है। सर्प जातियों में यह क्रिया इस प्रकार होती है कि पूरी कर्नियल लेयर एक बार में ही छूटती है जिसे सांप का कैंचुली छोड़ना कहते हैं। मनुष्य की बेसल सैल इस पत्रिका के पन्ने की मोटाई के बराबर दूरी करीब 21 दिन में पूरी करती है। सोरायसिस के रोगियों में यह प्रतिक्रिया तेज हो जाती है मसलन उपरोक्त फासला 3-4 दिन में ही पूरा होने लगता है। अत: छिलके की परत पर परत जमती रहती है और शुरूआत हो जाती है सोरायसिस के निशान की, इनके साथ-साथ कुछ सतही रक्त वाहनियां फूलने लगती हैं जिससे निशान पर कुछ लाली आ जाती है। साथ में अनेक बायो-कैमिकल व इन्जायेमैटिक प्रतिक्रियाएं भी चलती रहती हैं। जाहिर है कि इन क्रियाओं की गति रोग के बढ़ने के समय अधिक तेज होती है।

सोरायसिस क्यों होती है ?

किसी हद तक यह रोग वंशानुगत भी है। माता-पिता के पीड़ित होने से बच्चों में इसके होने की संभावना बढ़ जाती है। सात प्रतिशत सोरायसिस रोगियों के वंश में एक या अधिक लोग सोरायसिस ग्रस्त पाए गए हैं। त्वचा पर लगने वाली चोटें, खुजाने के निशान ऑपरेशन या इंजेक्शन की जगह पर अक्सर सोरायसिस के नए दाने निकल आते हैं। बैक्टीरियल संक्रमण की अपनी

अलग भूमिका है जो गटेट सोरायसिस को जन्म देती है। कुछ दवाइयां भी इसके उभरने या गंभीर होने का कारण बनती हैं। धूप व अल्ट्रावायलेट किरणों के अभाव में ठंडे देशों में इसका प्रकोप अधिक देखा जाता है।

सोरायसिस के प्रकार

अधिकांश मरीज आम सोरायसिस से पीड़ित होते हैं जो छोटे-छोटे गोल दागों के रूप में उभरती है जिसके ऊपर सफेद चमकीला छिलका उतरता रहता है, खुरचने से यह पतले चांदी की तरह चमकीले छिलके और भी मुखर हो उठते हैं। रोग जब चढ़ाव पर होता है तो इन छिलकों को हटाने से खून निकलने लगता है। यह निशान बढ़ कर बड़े चकत्ते भी बना लेते हैं जो शरीर पर कहीं भी फैल जाते हैं। प्रकोप पृष्ठ भागों पर अधिक होता है। घुटने व कोहनी तो उत्पीड़ित रहती ही है।

नाखून

नाखूनों पर बिन्दु के आकार के गड्ढे नजर आते हैं, नाखून मोटे हो जाते हैं और बाद में टूटने लगते हैं। कुछ व्यक्तियों में नाखून की सोरायसिस बिना चमड़ी की सोरायसिस के भी हो सकती है। चमड़ी के सोरायसिस वालों के नाखून तो अक्सर खराब रहते ही हैं।

सिर के बाल

बालों में अक्सर सोरायसिस के निशान डैन्ड्रफ समझ लिए जाते हैं, जोकि सही नहीं है। इनका उपचार आम सोरायसिस के उपचार की तरह ही होता है।

गटेट सोरायसिस

अनायास ही सारे शरीर पर सोरायसिस के छोटे-छोटे दाने निकल आते हैं। यह अक्सर बच्चों में जिनका गला खराब रहता है, बैक्टीरियल संक्रमण के कारण होते हैं। ये निशान अक्सर इलाज से 3-4 हफ्ते में मिट जाते हैं।

गंभीर सोरायसिस

सोरायसिस की दो गंभीर किस्में होती हैं, परचुलर सोरायसिस व इराइथ्रोडर्मिक सोरायसिस। यहां सारे शरीर में लाली आ जाती है। सोरायसिस के निशानों के साथ-साथ छाले भी निकलने लगते हैं। इस दशा में गहन चिकित्सा की आवश्यकता है और मरीज को अस्पताल में भरती होना पड़ सकता है।

सोरायसिस व जोड़ों का दर्द

करीब 7 प्रतिशत रोगियों के छोटे बड़े जोड़ों में दर्द व सूजन हो सकती है। कुछेक में जोड़ बहुत बुरी तरह से नष्ट हो सकता है।

सोरायसिस का उपचार

इस रोग के इलाज के लिए अच्छी व कारगर दवाएं उपलब्ध हैं। सोरासिस में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं पर इससे विचलित नहीं होना चाहिए। आवश्यकता है मर्ज को संयमित रखने की। बहुत ज्यादा या बहुत कम इलाज वांछित प्रभाव नहीं कर पाता है।

पाश्चात्य देशों में सोरायसिस के मरीज नियमित रूप से इकट्ठे हो कर अपनी रोजमर्रा की कठिनाइयों पर विचार-विमर्श करते हैं और डाक्टर की सलाह से उनका समाधान ढूढ़ते हैं। हमारे यहां चूंकि ऐसे क्लबों की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं, अत: मरीज कई भ्रांतियों के शिकार रहते हैं। पड़ोसियों की अधिकतर सलाह आग में घी का काम करती है। मरीज इतना परेशान हो जाता है कि यह तनाव ही रोग को बढ़ाने लगता है। आखिर यह एक त्वचा रोग है और इसका इलाज हो सकता है । इस विषय में कुछ जानकारी व सुझाव इस तरह हैं :—

- सोरायसिस का निशान छिलकों के परत दर परत जमने से बनता है, अत: सबसे जरूरी बात है कि इन छिलकों को नहाते वक्त रगड़ कर उतार दिया जाए तभी लगाने की दवा बेहतर असर करेगी। नहाने के लिए टार युक्त साबुन ज्यादा अच्छे रहते हैं जोकि छिलका उतारने के साथ-साथ लाली भी घटाते हैं। यही बात सिर के बालों पर भी लागू होती है। उन्हें टार युक्त शैम्पू से नियमपूर्वक धोते रहना चाहिए।

- सूर्य की रोशनी सोरायसिस के लिए लाभप्रद रहती है। सोरेलीन ग्रुप की दवाएं तो सूर्य की रोशनी के बिना असर ही नहीं करती हैं।

- कभी-कभी सोरायसिस चोट इंजेक्शन या खुजाने के निशानों पर भी उभर आती है। अत: ऐसी परिस्थितियों से बचना चाहिए, इंजेक्शन भी जहां तक हो सके नहीं लगवाने चाहिएं। यह भी एक विडम्बना है कि सूर्य की रोशनी जो साधारणत: फायदेमंद है किसी बिरले मरीज में नए निशान बना देती है। अगर ऐसा महसूस हो तो उस मरीज को धूप से बचना चाहिए।

- नाखूनों में छोटे-छोटे गड्ढे पड़ने लगते हैं और उनके टूटने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, अत: उन्हें रगड़ व चोट से बचा कर रखना चाहिए। अगर बहुत बुरे दिख रहे हों तो कृत्रिम नाखूनों का इस्तेमाल किया जा सकता है। भारतीय सूझ-बूझ से बने ये प्लास्टिक के नाखून भले ही बिल्कुल असली न लगते हों पर यह सस्ते और आसानी से उपलब्ध हैं। इनका प्रयोग बिना डाक्टर की सलाह के किया जा सकता है।

सोरायसिस के इलाज में कई लगाने वाली दवाएं जैसे सैलिसिलिक एसिड, टार, डिथ्रनाल, स्टोरायड व विटामिन डी से संबंधित रसायन जैसे कैल्सीपोट्रयाल आदि कारगर हैं। कैल्मीपोट्रयाल तो पिछले कुछ वर्षों में ही भारत में उपलब्ध हुआ है। उत्साहवर्धक बात यह है कि ज्यादातर मरीज लगाने की दवाओं से ही सुधर जाते हैं। सिर्फ कुछ लोगों को जिनमें जटिलताएं भी मौजूद होती हैं, अंदरूनी दवाइयां लेनी पड़ती हैं, इनमें प्रमुख हैं मैथोट्रेकसेट, रैटिनायड, सोरेलीन साइक्लो-स्पीरिन आदि । यह सब इलाज के तरीके विशेषज्ञ की नियमित सलाह से ही इस्तेमाल किए जाने चाहिए अन्यथा इनके दुष्प्रभाव भी हो सकते हैं ।

त्वचा विशेषज्ञ एवं अपर चिकित्सा अधीक्षक, सफदरजंग अस्पताल, नई दिल्ली.

हमारी विलक्षण सुरक्षा छतरी : ओजोन परत

—बजरंग लाल जेठू

हमारा वायुमंडल विभिन्न गैसों एवं जलवाष्प का मिश्रण है। वायुमंडल में अधिक मात्रा वाली नाइट्रोजन एवं आक्सीजन गैसें हैं तो दूसरी तरफ अल्प आयतन वाली ओजोन तथा कार्बन-डाइ-आक्साइड भी हैं।

क्या है ओजोन : रासायनिक दृष्टि से ओजोन गैस आक्सीजन का आक्सीकृत रूप है अर्थात् यह आक्सीजन का अपरूप है। इसमें आक्सीजन के ही परमाणु होते हैं परन्तु इनकी संख्या एवं व्यवस्था आक्सीजन से भिन्न होती है। आक्सीजन के एक अणु में जहां आक्सीजन के दो परमाणु होते हैं वहीं ओजोन के एक अणु में आक्सीजन के तीन परमाणु होते हैं। ओजोन नीले रंग व तीखी गंध वाली गैस है। प्रत्यक्ष रूप में ओजोन एक प्रदूषक गैस मानी जाती है जो जीवधारियों के लिए हानिकारक है परन्तु अपने विशिष्ठ प्रभाव के कारण यह जीवन की सृजक मानी जाती है। पृथ्वी की सतह पर इसकी उपस्थिति खतरनाक मानी गई है तथा यह विषैली व फेफड़ों के लिए नुकसानप्रद रही है। ओजोन रासायनिक दृष्टि से अत्यन्त अस्थायी व सक्रिया गैस है।

ओजोन छतरी : पृथ्वी की सतह से लगभग 8000 किलोमीटर तक वायुमण्डल है। इस वायुमण्डल को पांच समकेन्द्री भागों में बांट कर उन्हें विभिन्न परतों का नाम दिया गया है। इन परतों में प्रथम दो परतों क्षोभ मण्डल व समताप मण्डल में वायुमण्डलीय ओजोन की लगभग 95 प्रतिशत मात्रा पाई जाती है। इस प्रकार समताप मण्डल के जिस अधिकांश भाग में ओजोन की अधिकांश मात्रा पाई जाती है उसे ही ओजोन परत या ओजोन छतरी कहा जाता है। वैसे सारे वायुमण्डल में ओजोन की समस्त मात्रा केवल 0.000002 प्रतिशत ही है।

ओजोन का निर्माण : प्राकृतिक रूप में ओजोन का निर्माण आक्सीजन के आक्सीकरण से ही होता है। समताप मण्डल में सूर्य की पराबैंगनी किरणों की प्रकाश-रसायन क्रियाओं के फलस्वरूप ओजोन का निर्माण होता है। इन प्रकाश रसायन क्रियाओं का रोधक पहलू यह है कि पराबैंगनी-स विकिरण (280 नेनोमीटर तरंग लम्बाई से कम) की आक्सीजन व ओजोन दोनों पर क्रिया होती हैं। प्रथम चरण में पराबैंगनी विकिरण आक्सीजन के एक अणु को दो स्वतंत्र आक्सीजन परमाणुओं में विभक्त कर देता है तथा दूसरे चरण में पराबैंगनी विकिरण के द्वारा ही आक्सीजन का वह परमाणु आक्सीजन के किसी दूसरे अणु से संयुक्त होकर ओजोन का निर्माण करता है। इस प्रकार एक साम्यावस्था की स्थिति बराबर बनी रहती है तथा ओजोन की यह परत उच्च ऊर्जा युक्त पराबैंगनी विकिरण को सोखती रहती है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि लगभग 700 मिलियन वर्ष पूर्व तक आक्सीजन की मात्रा आज की तुलना का हजारवां भाग थी फलतः सूर्य का शक्तिशाली विकिरण पैराबैंगनी-स उस समय सीधा पृथ्वी की सतह पर आता था और

समुद्र के जल में भी लगभग 5 मीटर तक घुस जाता था। धीरे-धीरे विकास के विभिन्न चरणों के बाद आक्सीजन व ओजोन का यह सम्य स्थापित हुआ। इसके बावजूद हमें ध्यान रखना है कि 118-240 नेनोमीटर का सौर विकिरण ओजोन का निर्माण करता है तो 280-290 नेनोमीटर का विकिरण ओजोन को नष्ट करता है। 320-360 नेनोमीटर का सौर विकिरण निर्बल होता है जबकि 200-320 नेनोमीटर का विकिरण अधिकतम मात्रा में अवशोषित होता है। समताप मण्डल में ओजोन का वितरण ऋतु पर, ग्यारह वर्षीय सौर चक्र और द्विवार्षिक कल्प (क्वासी बाइनियल ऑसीलेसन) पर निर्भर करता है जिसके दो कारण ज्वालामुखी व अल नीनो हैं। यह माना जाता है कि समताप मण्डल व क्षोभ मण्डल के वार्षिक चक्र में परिवर्तन के कारण ओजोन का उत्पादन होता है परन्तु 1960-70 से यह बहस शुरू हो गई कि ओजोन उत्पादन में समताप मण्डल व क्षोभ मण्डल के बीच परिवहन का ज्यादा योगदान है या रासायनिक अभिक्रियाओं का। आंकड़े तो यह बताते हैं कि रासायनिक अभिक्रियाओं का योगदान ज्यादा है। वस्तुतः इन सबके बीच क्षोभ मंडलीय फोल्डिग (ट्रोपोयॉज फोल्डिंग) का अन्तर्वेधन होता है जिससे ओजोन के सान्द्रण में वृद्धि होती है। कभी-कभी उपग्रहीय परिसीमण के कारण भी ओजोन सान्द्रता बढ़ जाती है। विवेचन के बाद यह कहना सत्य है कि कुछ भी हो आज मानवीय गतिविधियों से ओजोन का प्राकृतिक साम्य टूटता जा रहा है।

ओजोन छतरी व पेराबैंगनी विकिरण : हम यह जानते हैं कि हमारे समताप मण्डल का ही एक हिस्सा ओजोन परत है जिसमें वायुमण्डल की लगभग सारी ओजोन उपस्थित है। अनुमान है कि ओजोन परत में लगभग 4.3 अरब टन ओजोन है। देखने में यह मात्रा काफी बड़ी नजर आती है परन्तु यदि इस सारी ओजोन को पृथ्वी के धरातल पर बिछाकर मानक ताप व दाब दिया जाये तो इसकी केवल मात्र 3 मिलीमीटर मोटी परत ही बन पायेगी। दूसरी तरफ सौर विकिरण के रूप में बराबर पराबैंगनी-अ विकिरण (400-320 नेनोमीटर) पराबैंगनी-ब विकिरण (320-280 नेनोमीटर) व पराबैंगनी-स विकिरण (280 नेनोमीटर से न्यून) समताप मण्डल की ओर आते रहते हैं। इनमें से 295 नेनोमीटर से अधिक का विकिरण निर्विघ्न पृथ्वी पर आता है और यह नुकसानदायक नहीं होता है। पराबैंगनी-स विकिरण को ओजोन छतरी सोख लेती है। पराबैंगनी-व विकिरण की सीमा के लिए ओजोन को सोखने की क्षमता का अवशेषण गुणांक घट जाता है फलतः कुछ पराबैंगनी-ब विकिरण पृथ्वी की सतह पर पहुंचता है। इस पराबैंगनी-ब विकिरण की पृथ्वी पर तीव्रता विकिरण के मार्ग की लम्बाई, धरातलीय सघनता व मार्ग में ओजोन की सान्द्रता पर निर्भर करेगी। इनमें प्रारम्भिक कारक खगोलीय है परन्तु ओजोन की सान्द्रता तो ओजोन छतरी में होने वाली प्रकाश-रसायन क्रियाओं का कोमल संतुलन है जो अब मानवीय हस्तक्षेप से बाधित होने लगा है।

छतरी को खतरे की चेतावनी : वायुमण्डल में ओजोन की महता का पता सबसे पहले उस वक्त लगा था जब सन् 1881 में हर्टल ने यह खोज की कि ओजोन पराबैंगनी किरणों को सोखती है। वायुमण्डलीय ओजोन द्वारा सौर विकिरण अवशोषण ही पृथ्वी के वायुमण्डल का

ऊर्जा स्रोत है जो ऊर्जा गति एवं विकिरण संतुलन को नियंत्रित करता है। ओजोन ही सौर विकिरण का अवशोषण कर पौधों एवं जैविक जगत की सुरक्षा कवच का कार्य करती है। इस सब के बावजूद कटु सत्य यह है कि ओजोन परत अर्थात् ओजोन छतरी में ओजोन की मात्रा मानवीय गतिविधियों के कारण कम होने लग गई है।

ओजोन परत में ओजोन की कमी के लिए सर्वप्रथम 70 के दशक में पॉल क्रुजन ने नाइट्रस आक्साइड को दोषी बताया। उन्होंने बताया कि नाइट्रस आक्साइड बहुत स्थायी यौगिक है जो खास बेक्टिरियाओं द्वारा उत्सर्जित होती है तथा जो धीरे-धीरे समताप मंडल तक पहुंच जाती है। वहां पहुंचकर यह गैस पराबैंगनी विकरण की उपस्थिति में नाइट्रिक आक्साइड व नाइट्रोजन डाई आक्साइड में परिवर्तित हो जाती है। ये दोनों ही नाइट्रस आक्साइड से भिन्न तीव्र क्रियाशील होती हैं तथा पराबैंगनी विकिरण की उपस्थिति में आक्सीजन को ओजोन में परिवर्तित करती हैं।

पाल क्रुजन के कुछ समय बाद ही सत्तर के दशक में मारियो मोलिवा व एफ. खैरवुड रौलेण्ड ने ओजोन क्षय के लिए क्लोरोफ्लोरोकार्बन (सी. एफ. सी) नामक यौगिकों को उत्तरदायी बताया। क्लोरोफ्लोरोकार्बन वर्ग के यौगिक ऐसे यौगिक हैं जो कार्बन, क्लोरीन, फ्लोरीन या ब्रोमीन नामक तत्वों के विभिन्न अनुपात में संयोग करने से बनते हैं। इन यौगिकों की एक श्रृंखला है। प्रथम सी.एफ.सी. रसायन का निर्माण 1930 में हुआ था। अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ. थामस मिजले की इस खोज को तब महान् खोज बताया गया। सी.एफ.सी. रसायन अज्वलनशील, अत्यधिक स्थायी, रंगहीन, गंधहीन और विषहीन होते हैं। इनके विभिन्न गुणों के कारण वे लोकप्रिय भी हैं। वे प्रशीतन में ऊष्मा वाहक के रूप में, फोम बनाने, स्प्रे में नोदक के रूप में तथा इलेक्ट्रोनिक्स उद्योग में विलायक के रूप में बहुत काम आते हैं। इनके और भी कई उपयोग खोजे गए हैं। सी.एफ.सी. रसायनों की ऊष्मा ग्रहण क्षमता भी बहुत ज्यादा होती है। एक सी.एफ.सी. अणु में कार्बन डाईआक्साइड की तुलना में 10 हजार गुणा ऊष्मा ग्रहण क्षमता होती है। इसी कारण ये रसायन हरित गृह (ग्रीन हाउस) गैसों में भी शामिल होते हैं। अत्यधिक स्वामित्व के कारण ये नष्ट नहीं होते हैं तथा धीरे-धीरे समताप मण्डल की ओर चले जाते हैं जहां पर वे ओजोन परत को नुकसान पहुंचाते हैं। इनकी वायुमण्डल में 40 से 150 वर्ष तक उपस्थिति बनी रहती है।

सी.एफ.सी. रसायन क्षोम मण्डल की निचली सीमा में रहते हुए इंफ्रारेड किरणों को सोखकर ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करते हैं परन्तु ये धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़कर समताप मण्डल में पहुंच जाते हैं। मारियों मोलिवा और शेरवुड रौलेण्ड (1974) बताते हैं कि समताप मण्डल की ओजोन परत क्षेत्र में पहुंचने पर इन रसायनों पर तीव्र पराबैंगनी विकिरण का प्रहार होने से ये टूट जाते हैं। पराबैंगनी विकिरण के द्वारा सी.एफ.सी. रसायनों का टूटना ही हमारे लिए खतरा बन जाता है। इन रसायनों के टूटने से अत्यन्त सक्रिय क्लोरीन मुक्त होती है। सी.एफ.सी. के एक अणु के टूटने से क्लोरीन का अत्यन्त सक्रिय एक परमाणु मुक्त होता है। यही एक क्लोरीन परमाणु है जो तुरन्त ओजोन के अणु को तोड़ डालता है जिससे आक्सीजन का एक अणु बनता है तथा क्लोरीन मोनो आक्साइड मुक्त होती है। क्लोरीन मोनो आक्साइड अस्थायी होती है तथा कई

क्रियाओं के बाद अन्त में क्लोरीन परमाणु को मुक्त कर देती है। यह मुक्त क्लोरीन परमाणु पुनः ओजोन अणु पर हमला कर देता है। इस प्रकार क्लोरीन का केवल मात्र एक परमाणु कोई एक लाख ओजोन अणुओं को नष्ट कर डालता है।

नाइट्रस आकसाइड व सी.एफ.सी. रसायनों के द्वारा उत्प्रेरक के रूप में कार्य करते हुए ओजोन को नष्ट करने की जानकारी होने के बाद लगभग एक दशक तक ओजोन क्षय की ओर लोगों ने कोई खास ध्यान नहीं दिया। विशेष ध्यान 1985 में दिया गया। इसके बाद तो ओजोन क्षय के कारणों पर बहुत कार्य हुआ। क्लोरोफ्लोरोकार्बन के अतिरिक्त क्लोरोफार्म, कार्बन टेट्रा क्लोरोइड, बोमीन आक्साइड, मिथाइल ब्रोमाइड, हाइड्रोक्लोरोफ्लोरोकार्बन वे हेलोन्स भी ओजोन क्षय कारक है। वायुमण्डल में उपस्थित नाइट्रोजन व क्लोरीन के आक्साइड भी ओजोन क्षय करते हैं। नाइट्रस आक्साइड के बारे में हम ऊपर जान चुके हैं। नाइट्रोजन का एक अन्य आक्साइड नाइट्रिक आक्साइड भी तीव्र ओजोन क्षय कारक है। वायुण्मडल में नाइट्रिक आक्साइड बिजली चमकने पर उत्पन्न होने वाले उच्च ताप व दाब की स्थिति में आक्सीजन व नाइट्रोजन के संयोग से बनती है। इस प्राकृतिक कारण के अलावा हवाई जहाज, राकेट संचालन व अन्य अंतरिक्षीय अभियानों से उत्पन्न उच्च ताप के कारण भी नाइट्रोजन व आक्सीजन के संयोग से नाइट्रिक आक्साइड बनती है। परमाणु विस्फोट का उच्च ताप भी नाइट्रिक आक्साइड का निर्माण करता है। हमारे कल कारखानों, वाहनों व बिजलीघरों से निकलने वाले धुएं में भी कार्बन मोनो आक्साइड, हाइड्रोकार्बन व सीसा होते हैं जो समताप मण्डल में पहुंच कर ओजोन परत को प्रभावित करते हैं।

कुछ प्राकृतिक घटनाओं को भी ओजोन परत को नुकसान पहुंचाने वाला माना गया है। दक्षिण ध्रुव पर ओजोन छिद्र हेतु रूसी वैज्ञानिकों ने मैक्सिको में आये एल—चिमकोन ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट को कारण माना है। ज्वालामुखी के फूटने से उससे निकलने वाली हाइड्रोजन क्लोराइड व हाइड्रोजन फ्लोराइड गैसें तो ओजोन क्षय करती ही हैं सल्फर के यौगिक भी ओजोन क्षय को बढ़ावा देते हैं। ज्वालामुखी से निकले सल्फेट कण नाइट्रोजन आक्साइड की मात्रा को प्रभावित करते हैं व मीथेन को भी प्रभावित करते हैं। समताप मंडल में उपस्थित नाइट्रोजन आक्साइड क्लोरीन मोनो आक्साइड से संयुक्त हो उसे हानिरहित रूप में बदलकर ओजोन क्षय रोकती है। अनुसंधानकर्ता कहते हैं कि सल्फेट कणों द्वारा उत्प्रेरित होने वाली एक अभिक्रिया नाइट्रोजन आक्साइड को स्थिरीकृत कर उसकी ओजोन रक्षात्मक क्षमता को अवरूद्ध करती है। एक अन्य प्रक्रिया में भी सल्फेट कण ओजन रक्षा को बाधित करते हैं। वायुमण्डल में उपस्थित मीथेन क्लोरीन से क्रिया करके उसे हाइड्रोजन क्लोराइड में बदलती है जिससे क्लोरीन मोनो आक्साइड बनने हेतु उपलब्ध होने वाली क्लोरीन की मात्रा कम हो जाती है। परन्तु कहा जाता है कि सल्फेट कण मीथेन व क्लोरीन के बीच होने वाली इस अभिक्रिया को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करते हैं जिससे क्लोरीन मोनो आक्साइड निर्माण हेतु अधिक क्लोरीन उपलब्ध हो रही है। इस प्रकार ज्वालामुखी उत्सर्जन भी ओजोन के प्रतिकूल है।

प्राकृतिक कारणों में पृथ्वी के क्षेत्र विशेष में घटने वाली घटनाएं भी ओजोन क्षय को बढ़ावा देती हैं। इसके लिए अंटार्कटिका का ओजोन क्षय एक उदाहरण है। इस महाद्वीप में प्रतिवर्ष अगस्त से अक्तूबर माह तक ओजोन ह्रास रहता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि इसका कारण अंटार्कटिका का मौसम तंत्र है। मौसम तंत्र के आधार पर दो सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार वैज्ञानिकों का मानना है कि अंटार्कटिका की छ: माह की अंधेरी शीत के बाद वायु का बहाव असामान्य हो जाता है। पृथ्वी तल के निकट की वायु जिसमें ओजोन कम होती है, समताप मंडल तक पहुंचती है। इस प्रकार की वायु के मिलने से परत में ओजोन कम हो जाती है। दूसरे सिद्धान्त को मानने वाले वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण अलग है। उनका कहना है कि ज्यों ही सूर्य कर्क रेखा की ओर मुड़ता है तो अंटार्कटिका की छ: माह लम्बी रात्रि अर्थात् सर्दियां शुरु हो जाती हैं तथा तापमान शून्य से -90 डिग्री सैं. तक चला जाता है। ध्रुव के चारों ओर चलने वाली प्रबल पश्चिमी हवाएं इतनी प्रबल हो जाती हैं कि उनका वेग 100 मि. प्रति से. तक हो जाता है। इससे ध्रुव के चारों ओर तीव्रता से घूमता हवाओं का एक ऐसा परिवृत बन जाता है जिसके अन्दर के मुख्य भाग का शेष बाहर के मौसम से पूर्णतया पृथ्थकरण हो जाता है। उत्तर की गर्म हवाओं से विलगित इस परिवृत के अन्दर का तापमान इतना गिर जाता है कि 25 किलोमीटर की ऊंचाई पर समताप मण्डलीय बादल बनने शुरू हो जाते हैं। ये बादल दो काम करते हैं। एक तो ये बर्फ के क्रिस्टल तैयार करते हैं जिन पर होने वाली रासायनिक क्रियाएं सी०एफ०सी० व हैलान यौगिकों को क्लोरीन व फ्लोरीन के ऐसे यौगिकों में बदल दती हैं जो सूर्य किरणों के प्रति संवेदनशील हो। इन बादलों का दूसरा कार्य नाइट्रोजन के उन आक्साइडों को ठण्ड से जमाकर निष्क्रिय करना होता है जो क्लोरीन की क्रियाशीलता को कम करते हैं। मतलब यह हुआ कि सर्दियों में क्लोरीन के परमाणु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और क्लोराइड नाइट्रेट नामक स्थिर यौगिकों में परिवर्तित होकर जम जाते हैं। जब बसन्त की पहली किरण इन परिवर्तित यौगिकों पर पड़ती है तो ये सक्रिय हो जाते हैं तथा क्लोरीन व फ्लोरीन के स्वतंत्र परमाणु मुक्त करते हैं। यही ताजा परमाणु ओजोन विघटन का काम शुरु कर देते हैं। इसी से अगस्त माह के मध्य तक ओजोन परत में छिद्र (विरलन) बनना शुरु हो जाता है और एक माह में अपना पूर्ण आकार ग्रहण कर लेता है। अक्तूबर माह के अन्त तक यह छिद्र पुन: लुप्त हो जाता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु में व दक्षिणी गोलार्द्ध में वसन्त में ओजोन की कमी मौसम तंत्र से भी प्रभावित मानी गई है।

ओजोन परत की स्थिति : सत्तर के दशक के प्रारम्भ में वैज्ञानिकों द्वारा ओजोन भक्षी रासायनिक पदार्थों के बारे में चौंकाने वाले निष्कर्ष देने के बावजूद भी ओजोन की स्थिति पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। 1974 में रॉलैण्ड के ध्यानाकर्षण के बाद 1977 में ब्रिटिश अध्ययन दल ने दक्षिणी ध्रुव की ओजोन परत में छिद्र की सूचना दी परन्तु कोई खास प्रतिक्रिया नहीं हुई। यहां यह ध्यान में रखने की बात है कि इस समय तक ओजोन अवक्षय मापन के स्वतंत्र प्रयास जरूर शुरू हो गए थे।

ओजोन के क्षय को मापने के लिए काम में ली जाने वाली इकाई डोबसन कहलाती है। इस इकाई का निर्धारण भी ओजोन की कुल मात्रा के आधार पर किया गया है। कुल

ओजोन को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है कि वह मानक दाब व तापमान पर एक वर्ग सेंटीमीटर के ऊर्ध्व कॉलम में उपस्थित ओजोन की मात्रा के बराबर होता है। इसे दाब० की इकाइयों में बताया जा सकता है। इसका विशिष्ट मान लगभग 0.3 वायुमंडलीय सेंटीमीटर है इसे अधिकतर वायुमंडलीय सेंटीमीटर में व्यक्त किया जाता है तथा इसे ही डोबियन इकाई के नाम से भी जाना जाता है। इकाई के बारे में और अधिक स्पष्ट होने के लिए यूं समझिए कि वायुमण्डल में उपस्थित सम्पूर्ण वायु को 1000 मिलीबार दाब पर रखा गया। ऐसी स्थिति वायु पर्त की मोटाई 8 किलोमीटर रह जाएगी। (वैसे वायुमण्डल लगभग 8000 किलोमीटर तक फैला है) इस 8 किलोमीटर में आक्सीजन की भागीदारी 1.5 किलोमीटर होगी। जबकि ओजोन पर्त मात्र 3 मिलीमीटर मोटी होगी। बस इसी स्थिति में ओजोन मात्रा को 300 डोबसन इकाई कहेंगे। हमारी ओजोन की यह स्थिति 1970 से पूर्व की है। इसके बाद 1993 में यह मान 91 डोबसन तथा 96 में 100 डोबसन पाया गया है।

1985 में जे०सी० फरमान द्वारा यह बताए जाने के बाद कि ओजोन छतरी का ह्रास उत्तरी ध्रुव पर शीत में व दक्षिणी ध्रुव पर वसन्त में ज्यादा होता है, कुछ गम्भीरता ग्रहण की गई। इसी वर्ष प्रथम भू-मण्डलीय संगोष्ठी आयोजित की गई। इसके बाद 1987 की 16 सितम्बर को कनाडा के मांट्रियल शहर में 43 देशों के प्रतिनिधियों व वैज्ञानिकों ने अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न की जिसमें मांट्रियल आचार संहिता का प्रारूप तैयार किया गया। इस प्रारूप के अन्तर्गत किए गए समझौते को मांट्रियल समझौता कहा जाता है। 1 जनवरी 1989 से लागू इस समझौते में विश्व के सभी सी०एफ०सी० उत्पादक देशों को निर्देश दिया गया कि इन रसायनों का उत्पादन 1998 तक घटाकर 50 प्रतिशत कर दें। समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देश उक्त रसायनों का उत्पादन शुरु में 1986 के स्तर पर रोकने और 1998 तक आधा करने में सहमत हुए जबकि हैलने का उत्पादन भी 1992 तक 1986 के स्तर पर लाने में सहमत हुए। इसके बाद जून 90 में लन्दन में "ओजोन परत सुरक्षा" के नाम से संगोष्ठी में मांट्रियल आचार संहिता का संशोधन प्रस्तुत किया गया। **इसमें ओजोन भक्षी पदार्थों पर सख्त प्रतिबन्ध लगाए गए।** अगस्त 1992 से लागू इस लन्दन संशोधन में सी०एफ०सी०, हैलन और सी०टी०सी० के उपयोग को सन् 2000 तक व मिथयल क्लोरोफार्म के उपयोग को 2005 तक समाप्त करने का समझौता हुआ। इसके बाद नवम्बर 1992 में "कोपेनहेगेन संशोधन" प्रस्तुत हुआ जो जनवरी 1994 से लागू हुआ। इस संशोधन में पहली बार विकसित व विकासशील देशों के लिए अलग समयावधि तय की गई। कोपेनहेगेन संशोधन के अन्तर्गत ऐसे विकासशील देश जहां ओजोन भक्षी पदार्थों की प्रति व्यक्ति खपत 0.3 किलोग्राम प्रतिवर्ष से कम है उन्हें विकसित देशों की अपेक्षा इन रसायनों का इस्तेमाल समाप्त करने के लिए 10 वर्ष अधिक का समय दिया गया। इस सम्बन्ध में भारत के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि हम ओजोन भक्षी पदार्थों की समाप्ति की मुहिम में गम्भीरता से सक्रिय हैं।

जेठवास, दांतरु, लक्ष्मणगढ़ (सीकर) राजस्थान-332311

मौलिक सृजनः अनुवाद और अनुवाद-प्रक्रिया

—डा० शिबन कृष्ण रैणा

अनुवाद को मौलिक सृजन की कोटि में रखा जाए या नहीं, यह बात हमेशा चर्चा का विषय रही है। अनुवादकर्म में रत अध्यवसायी अनुवादकों का मत है कि अनुवाद दूसरे दर्जे का लेखन नहीं, अपितु मूल के बराबर का ही सृजनधर्मी प्रयास है। बच्चन जी के विचार इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं—"मैं, अनुवाद को यदि मौलिक प्रेरणाओं से एकात्मक होकर किया गया हो, मौलिक सृजन से कम महत्त्व नहीं देता। अनुभवी ही जानते हैं कि अनुवाद मौलिक सृजन से अधिक कितना कठिन-साध्य होता है। मूल कृति से रागात्मक सम्बन्ध जितना अधिक होगा, अनुवाद का प्रभाव उतना ही बढ़ जाएगा। वस्तुतः सफल अनुवाद वही है जो अपनी दृष्टि भावों/कथ्य/आशय पर रखे। साहित्यानुवाद में शाब्दिक अनुवाद सुन्दर नहीं होता। एक भाषा का भाव या विचार जब अपने मूल भाषा-माध्यम को छोड़कर दूसरे भाषा-माध्यम से एकात्म होना चाहेगा तो, उसे अपने अनुरूप शब्दराशि संजोने की छूट देनी ही होगी। यहीं पर अनुवादक की प्रतिभा काम करती है और अनुवाद मौलिक सृजन की कोटि में आ जाता है (साहित्यानुवाद, संवाद और संवेदना, पृ. 85) मेरा भी यही मानना है कि अनुवाद एक तरह से पुनर्सृजन ही है और साहित्यिक अनुवाद में अनुवाद को स्वीकार्य/पाठनीय बनाने के लिए हल्का-सा फेरबदल करना ही पड़ता है।

यहां पर अपने मत की पुष्टि में दो-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा। अंग्रेजी का एक वाक्य है: *Small insects are crawling on the floor.* हिंदी में इस वाक्य का अनुवाद यों हो सकता है—1. छोटे कीड़े फर्श पर रेंग रहे हैं। 2. छोटे-छोटे कीड़े फर्श पर रेंग रहे हैं। पहला अनुवाद शब्दानुवाद कहलाएगा और दूसरा साहित्यिक या भावानुवाद। दूसरा उदाहरण लें—*Small leaves are falling from the tree.* हिंदी में इस वाक्य का अनुवाद इस तरह से हो सकता है—1, छोटे पत्ते वृक्ष/पेड़ से गिर रहे हैं, 2, नन्हीं पत्तियां वृक्ष/पेड़ से गिर रही हैं, 3, नन्हीं-नन्हीं पत्तियां पेड़/वृक्ष से गिर रही हैं। इन तीनों वाक्यों में पहला शब्दानुवाद, दूसरा भाव/साहित्यिक अनुवाद तथा तीसरा सृजनात्मक अनुवाद कहलाएगा। हिंदी अनुवादों के उक्त विभिन्न रूपों में अंग्रेजी के प्रथम वाक्य का दूसरा रूप तथा दूसरे वाक्य का तीसरा रूप अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर/सजीव बन पड़ा है। "छोटे" व "नन्हीं" की पुनरुक्ति ने अनुवाद के सौन्दर्य को निश्चित रूप से बढ़ाया है। मूलपाठ में यद्यपि इन दो शब्दों की पुनरावृत्ति नहीं थी, क्योंकि अंग्रेजी भाषा की यह प्रकृति नहीं है, मगर हिंदी-अनुवाद में अतिरिक्त शब्द जोड़ने से अनुवाद में कलात्मकता के साथ-साथ स्वाभाविकता खूब आ गई है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्यिक अनुवादों में सृजनात्मक तत्व की खासी भूमिका रहती है।

अनुवाद एक श्रमसाध्य और कठिन रचना-प्रक्रिया है। वह मूल रचना का अनुकरण मात्र नहीं वरन् पुनर्जन्म होता है। वह द्वितीय श्रेणी का लेखन नहीं, मूल के बराबर का ही दमदार प्रयास

है। इस दृष्टि से मौलिक सृजन और अनुवाद की प्रक्रिया प्राय: एकसमान है। दोनों के भीतर अनुभूति पक्ष की सघनता रहती है। अनुवादक जब तक कि मूल रचना की अनुभूति, आशय और अभिव्यक्ति के साथ तदाकार नहीं हो जाता तब तक सुन्दर एवं पठनीय अनुवाद की सृष्टि नहीं हो पाती। इसलिए अनुवादक में सृजनशील प्रतिभा का होना अनिवार्य है। मूल रचनाकार की तरह अनुवादक भी कथ्य को आत्मसात् करता है, उसे अपनी चित्तवृत्तियों में उतारकर पुन: सृजित करने का प्रयास करता है तथा अपने अभिव्यक्ति-माध्यम के उत्कृष्ट उत्पादनों द्वारा उसको एक नया रूप देता है। इस सारी प्रक्रिया में अनुवादक की सृजनप्रतिभा या कारयित्री प्रतिभा मुखर रहती है। अनुवाद में अनुवादक की कारयित्री प्रतिभा के महत्व को सभी अनुवाद-विज्ञानियों ने स्वीकार किया है। इसी कारण अनुवादक को भी एक सर्जक ही माना गया है और उसकी कला को सर्जनात्कम कला। फिज्जेराल्ड़ द्वारा उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया जा सकता है। विद्वानों का मानना है कि यह अनुवाद खैयाम की काव्य-प्रतिभा की अपेक्षा फिज्जेराल्ड़ की निजी प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। स्वयं फिज्जेराल्ड़ ने अपने अनुवाद के बारे में कहा है कि एक मरे हुए पक्षी के स्थान पर दूसरा जीवित पक्षी अधिक अच्छा है (मरे हुए बाज की अपेक्षा एक जीवित चिड़िया ज्यादा अच्छी है)। कहना वे यह चाहते हैं कि अगर मैंने रूबाइयों का शब्दश:/यथावत अनुवाद किया होता तो उसमें जान न होती, वह मरे हुए पक्षी की तरह प्राणहीन अथवा निर्जीव होता। अपनी प्रतिभा उंड़ेलकर फिज्जेराल्ड़ ने रूबाइयों के अनुवाद को प्राणमय एवं सजीव बना दिया है।

जिस प्रकार मूल रचनाकार का लेखन 'जीवन और जगत्' के प्रति उसकी 'मानसिक प्रतिक्रिया' होता है, और वह अपनी अनुभूति (प्रतिक्रिया) को शब्दों के माध्यम से कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है, ठीक उसी प्रकार अनुवादक भी मूल कृति को पढ़कर स्पंदित होता है और अपनी उस अनुभूति (प्रतिक्रिया) को वाणी देता है। इस संदर्भ में डॉ. आदिनाथ सोनटक्के के विचार उल्लेखनीय हैं— 'अनुवादक को भी जब कोई रचना प्रभावित करती है, तब वह भी अन्तर्बाह्य अभिभूत हो उठता है।' यहां तक तो अनुवादक और अन्य पाठक की मनोदशा समान-सी होती है किन्तु अनुवादक अपनी आनंदानुभूति में अन्यों को भी सहभागी करने का इच्छुक होने के कारण अनुवाद करने को विवश हो उठता है, जैसे सर्जक अपने भाव-स्पंदन को शब्दांकित करता है। स्रष्टा कथ्य को मन में घोलता रहता है। अनुवादक भी अनुवाद सामग्री को लक्ष्य भाषा में उतारने के लिए घुटता है। "एक-एक शब्द का चयन करते समय श्रेष्ठ अनुवादकों को कितना आत्मसंघर्ष करना पड़ता है, यह सर्वविदित है .... एक प्रकार से अनुवादक अंत: स्फूर्ति एवं अन्त:प्रेरणा से जब ओत प्रोत होगा, तब उसकी रचना चैतन्यदायी तथा प्राणवान होगी।"

मूल रचनाकार की तरह की अनुवादक को आत्मविलोपन कर मूल कथ्य की आत्मा से साक्षात्कार करना पड़ता है। इसके लिए उसकी सृजनात्मक प्रतिभा उसका मार्गदर्शन करती है। अनुवाद-चिंतक तीर्थ बंसतजी ने सृजनात्मक साहित्य और अनुवाद पर सुन्दर विचार व्यक्त किए *। वे कहते हैं—

"सृजनात्मक साहित्य में और अनुवाद में अंतर है भी और नहीं भी। सृजनशील लेखक अपने भाषा चातुर्य से यथार्थ का अनुकरण करता है। उसे अपने जीवन में संसार से जो अनुभव प्राप्त होता है, उसको अपनी कला के माध्यम से अपनी भाषा में प्रस्तुत करता है और अनुवादक उसी अनुकृति का अनुकरण करता है। दानों ही नकल करते हैं, परन्तु एक अपने भावों को भाषा में उतारता है और दूसरा अपने मन में किसी दूसरे के भावों की प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न भावों का तर्जुमा करता है। ..... जिस प्रकार नरगिस का फूल सरोवर में अपनी प्रतिच्छाया देखकर प्रफुल्लित होता है, उसी प्रकार अनुवादक भी अपने व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया को दूसरे की कला में पाकर अनुवाद करने को विवश हो उठता है। उसकी कला स्वयं प्रकाशित होते हुए भी किसी ऐसे व्यक्तित्व पर निर्भर करती है, जिसने उसके सुप्त भावों को जागृत किया है।"

यही सही है कि अनुवाद पराश्रित होता है। वह नूतन सृष्टि नहीं अपितु सृजन का पुनर्सृजन होता है। इस दृष्टि से अनुवाद-कर्म को मौलिक-सृजन की कोटि में रखने के मुद्दे पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है। तभी कुछ विद्वान इस कर्म को 'अनुसृजन' की संज्ञा देना अधिक उचित समझते हैं। मगर चूँकि दोनों मूल सृजक और अनुवादक अनुभव, भाषा और अभिव्यक्ति-कौशल के स्तर पर एक-सी रचना-प्रक्रिया से गुजंते हैं, अत: अनुवाद-कार्य को मौलिक-सृजन न सही, उसे मौलिक-सृजन के बराबर का सृजन-व्यापार समझा जाना चाहिए।

अनुवाद की प्रक्रिया

अनुवाद की प्रक्रिया आपने आप में एक संश्लिष्ट कार्य-व्यापार है। मौलिक सृजन की तरह ही अनुवादक अनुवाद करते समय सृजन के विभिन्न सोपानों से गुजरता है और अन्तत: एक उत्कृष्ट अनूदित कृति का निर्माण करता है। इस सारी प्रक्रिया में उसके चिंतन-मनन की खासी भूमिका रहती है। प्रसिद्ध अनुवाद-विज्ञानी नाइडा ने 'चिंतन-मनन' की इस स्थिति को अनुवाद-प्रक्रिया के संदर्भ में तीन सोपानों में यों विभाजित किया है: 1. विश्लेषण (*analysis*) 2. अंतरण (*transfer*) 3. पुनर्गठन (*rearrangement*)।

अनुवाद करते समय अनुवादक को क्रमश: उक्त तीनों प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम अनुवादक स्त्रोत भाषा के पाठ का चयन कर उसमें निहित संदेश या आशय का विश्लेषण करता है। इस दौरान वह स्त्रोत भाषा के मूलपाठ का अर्थ ग्रहण करता है। अर्थ गहण कर लेने के पश्चात् वह लक्ष्य भाषा में उसे अंतरित करने की प्रक्रिया में आता है और लक्ष्य भाषा में उसके स्वरूप को निर्धारित कर लेता है। इसके बाद वह लक्ष्य भाषा के स्वरूप, प्रकृति/स्वभाव के अनुसार उस कथ्य को पुनर्गठित करता है और इस तरह अनुवाद अपने परिसज्जित (*finished*) रूप में पाठक के समक्ष पहुंचता है। दरअसल, पुनर्गठन अनुवाद प्रक्रिया का अतीव महत्वपूर्ण पक्ष है। पुनर्गठन अनुवाद का तीसरा एवं अत्यंत महत्वपूर्ण चरण है। हर भाषा की अपनी एक विशिष्ट कथन-शैली या अभिव्यक्ति-प्रणाली होती है। स्त्रोतभाषा के पाठ को लक्ष्य-भाषा के संस्कार के साथ सफलतापूर्वक जोड़ते हुए एक नया/पठनीय पाठ तैयार करना, सचमुच अनुवादक के लिए एक

चुनौती-भरा काम है। यह काम वह अनूदित पाठ के सृजक की हैसियत से थोड़ी-बहुत छूट लेकर कर सकता है। इसके लिए वह पद्य में लिखी मूलकृति का अनुवाद गद्य में कर सकता है, लम्बे-लम्बे वाक्यों को तोड़कर अनुवाद कर सकता है, व्याकरणिक संरचना में फेर-बदल कर सकता है, आदि-आदि। इस सारी प्रक्रिया में अनुवादक को इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है। कि मूल पाठ के संदेश/आशय में कोई फर्क न आने पाए। (अनुवाद—प्रक्रिया डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृ० 23)।

प्रसिद्ध अनुवादक डा. एन.ई विश्वनाथ अय्यर ने अनुवाद-प्रक्रिया को जिन तीन चरणों, यथा-अर्थग्रहण, मन में भाषांतरण और लिखित अनुवाद, में विभक्त किया है, वे प्रकारांतर से नाइडा के वर्गीकरण से मिलते-जुलते हैं। मूलतः अनुवाद प्रक्रिया के अन्तर्गत अनुवादक को दो तरह के पाठों से गुजरना पड़ता है, —पहला पाठ, जो स्त्रोत-भाषा के रूप में उसके सामने पहले से ही होता है, जिसका रचयिता कोई और होता है और उसके पाठक भी कोई और होते हैं। सर्वप्रथम अनुवादक का इसी पाठ से साक्षात्कार होता है। उसका पहला काम मूलपाठ/कृति में निहित संदेश/आशय को अच्छी तरह समझना होता है। दूसरे चरण में वह मूलकृति के समझे हुए संदेश/आशय को न केवल भाषांतरित करता है अपितु एक नए पाठ के रूप में प्रस्तुत भी करता है। इस सारी प्रक्रिया में अनुवादक का कई तरह के दबावों से गुजरना स्वाभाविक है। एक ओर उसे मूल कृति में निहित संदेश/आशय को लक्ष्य-भाषा में उपलब्ध भाषा-विधान में ढालना पड़ता है और दूसरी ओर अनुदित पाठ की संरचना कुछ इस प्रकार से करनी पड़ती है कि वह मूलपाठ के समतुल्य बन कर पाठकों के लिए सहज संप्रेष्य/बोधगम्य हो सके। संरचना की इस प्रक्रिया को नाइडा कुछ इस तरह का मानते हैं—'जिस तरह विभिन्न आकार के बक्सों के सामान को उनसे भिन्न आकार वाले बक्सों में फिर से जमाया जाता है'। चूंकि अनुवादक मूलपाठ का रचयिता नहीं है, इसलिए संप्रेषण-व्यापार की कई समस्याओं से उसे जूझना पड़ता है। उसके सामने तो मूलपाठ का 'प्रारूप'/फारमेट मात्र होता है जिसके समानांतर उसे लक्ष्य भाषा में एक नया/अंतरित पाठ तैयार करना होता है। लक्ष्य-भाषा के पाठकवर्ग की अपेक्षाओं एवं भाषिक मानसिकता का उसे पूरा ध्यान रखना पड़ता है। लक्ष्य भाषा की प्रकृति, स्वभाव, संस्कार आदि के अनुरूप उसे अनूवादित-पाठ को सजाना/संवारना पड़ता है।

अनुवाद-प्रक्रिया के जिन विभिन्न चरणों या सोपानों की ओर ऊपर इंगित किया गया है, वे सहज होते हुए भी समस्यापूर्ण हैं। दरअसल, एक भाषा द्वारा जो अर्थ व्यंजित होता है, उसे दूसरी भाषा में उस रूप में व्यंजित कर पाना हमेशा संभव नहीं होता। होता यह है कि जब एक भाषा की संकल्पना को दूसरी भाषा में अंतरित किया जाता है तो अनुवाद समरूप (*identical*) न होकर समतुल्य (*equivalent*) होता है। तब ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि अनुदित पाठ में कुछ छूट जाता है, कुछ अतिरिक्त जुड़ जाता है या कुछ मूल से अलग होकर मूल कथ्य को प्रेषित करता है। इस प्रकार अनुवादक को (न चाहते हुए भी) मूलपाठ तथा अनूदित पाठ में संतुलन बनाए रखने के लिए समझौते करने पड़ते हैं। (अनुवाद का व्याकरण, पृ. 132) डॉ. भोलानाथ तिवारी

का यह कथन कि अनुवाद करते समय 'न कुछ छोड़ों, न कुछ जोड़ो' साहित्यानुवाद में प्राय: कारगर सिद्ध नहीं होता। सुन्दर, सरस एवं पठनीय अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनुवादक मूल में आटे में नमक समान—फेरबदल करे । इससे उसका अनुवाद अधिक संगत, स्वाभाविक एवं सहज बनेगा। हाँ, एक बात अवश्य है कि इस सारी प्रक्रिया में मूल की आत्मा की रक्षा करना अनुवादक के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। अनुवाद के अच्छे/बुरे होने के प्रश्न को लेकर कई तरह की भ्रांतियां प्रचलित हैं। आरोप यह लगाया जाता है कि मूल की तुलना में अनुवाद अपूर्ण रहता है।, अनुवाद में मूल के सौन्दर्य की रक्षा नहीं हो पाती, अनुवाद दोयम दर्जे का काम है आदि-आदि। अनुवाद-कर्म पर लगाए जाने वाले उक्त आरोप मुख्यत: अनुवादक की अयोग्यता के कारण हैं। अनुवाद में मूल भाव सौन्दर्य तथा विचार सौष्ठव की रक्षा हो सकती है परन्तु भाषा-सौन्दर्य की रक्षा इस लिए नहीं हो पाती क्योंकि भाषाओं में रूपरचना तथा प्रयोग की रूढ़ियों की दृष्टि से भिन्नता होती है। ध्यान से देखा जाए तो अनुवाद के दौरान मूल के कुल सौन्दर्य में जितनी हानि होती है, उससे भी कहीं अधिक मूल का सौन्दर्य सुरक्षित रहता है और हानि की खासी भरपाई होती है—मौलिक लेखन के बाद ही अनुवाद होता है, अत: निश्चित रूप से यह कम की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि गुणवत्ता की दृष्टि से भी वह दूसरे स्थान पर है। जिस प्रकार मौलिक लेखन बढ़िया भी हो सकता है और घटिया भी, उसी प्रकार अनुवाद भी घटिया/बढ़िया हो सकता है। उक्त आरोपों से अनुवाद-कार्य का महत्व कम नहीं होता। पूर्व में कहा जा चुका है कि अनुवादक दो भाषाओं को न केवल जोड़ता है अपितु उनमें संजोई ज्ञानराशि को एक-दूसरे के निकट लाता है। अनुवादक अन्य भाषा की ज्ञान-संपदा को लक्ष्य भाषा में अंतरित करने में शास्त्रीय ढंग से कहां तक सफल रहा है, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि लक्ष्य भाषा के पाठकों का अनुवाद द्वारा एक नई कृति से परिचित होना है। मूल रचना का स्वल्प परिचय पूर्ण अज्ञान से बेहतर है। गेटे की वे पंक्तियां यहां पर उद्धृत करने योग्य हैं जिनमें उन्होंने कार्लाइल को लिखा था, 'अनुवाद की अपूर्णता के बारे में तुम कुछ भी हो, परन्तु सच्चाई यह है कि संसार के व्यावहारिक कार्यों के लिए उसका महत्व असाधारण और बहुमूल्य है'।

अनुवाद-प्रक्रिया एवं उससे जुड़े अन्य व्यावहारिक पक्षों पर ऊपर जो चर्चा की गई है, वह अनुवाद-कला की बारीकी को वैज्ञानिक तरीके से समझने के लिए है। दरअसल, यह अनुवादक की निजी भाषिक क्षमताओं, अनुभव एवं प्रतिभा पर निर्भर है कि उसका अनुवाद कितना सटीक, सहज और सुन्दर बनता है।

अध्येता, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला

आर्यों का मूल निवास स्थान ?

—प्रो० योगेश चन्द्र शर्मा

विश्व का सर्वाधिक प्राचीन और प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद है। इस ग्रन्थ के मन्त्र सृष्टा थे आर्य ऋषि, जिन्होंने इन मंत्रों की रचना हमारी पवित्र नदियों के किनारे बैठकर की। ऋग्वेद सहित हमारे सम्पूर्ण वैदिक साहित्य ने यह प्रमाणित किया है कि प्राचीन विश्व में आर्य सर्वाधिक प्रतिभाशाली, शौर्यवान और साहसी थे। उन्होंने ही एक महान संस्कृति को जन्म दिया, जिसकी श्रेष्ठता को लगभग सभी आधुनिक विद्वान स्वीकारते हैं। लेकिन इस स्वीकृति के पीछे पाश्चात्य विद्वानों की यह झिझक भी रही है कि इससे भारत का सम्मान कहीं पश्चिमी देशों से आगे न बढ़ जाए। संभवतः इसीलिए कुछ पाश्चात् विद्वानों ने बार-बार इस बात को दुहराया है कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे। वे बाहर से आए थे और यहां के मूल निवासियों को आक्रमण द्वारा भगाकर स्वयं यहां बस गए थे। वैदिक साहित्य की रचना यहीं उत्तर भारत में की गई, इसे तो पाश्चात्य विद्वान भी अस्वीकार नहीं कर पाते। हमारे वेदों की प्रत्येक ऋचा में इस देश की मिट्टी की सुगन्ध समाई हुई है। इसलिए, उसे अस्वीकारना सम्भव भी नहीं। मगर इन विद्वानों के अनुसार वैदिक ऋचाओं की रचना से पूर्व, आर्यों का निवास कहां था, यह स्पष्ट रूप में प्रमाणित नहीं है। इसी को आधार बनाकर पाश्चात्य विद्वानों ने कतिपय अन्य स्थानों की कल्पना की है, जो आर्यों के मूल निवासस्थान हो सकते थे। इनमें सर्वाधिक चर्चित और पाश्चात्य विद्यानों द्वारा स्वीकृत स्थान है मध्य एशिया। इस विचार के प्रमुख सूत्रधार थे प्रसिद्ध जर्मन विद्वान मैक्समूलर। यह उल्लेखनीय है कि 19वीं शताब्दी के मध्य में जिन दिनों मैक्समूलर द्वारा यह विचार धारा प्रतिपादित की गई, उन दिनों अंग्रेजी राज्य भारत में अपनी जड़ें जमाने में लगा था और अंग्रेज हमारे राष्ट्रीय गौरव को समाप्त करके अंग्रेजी संस्कृति के प्रसार में व्यस्त थे। 1857 के हमारे स्वतंत्रता समर ने भी अंग्रेजों को काफी बौखला दिया था। ऐसी स्थिति में इस मान्यता को अस्वीकारना कठिन है कि आर्यों को विदेशी बतलाकर अंग्रेज भारतवासियों के मस्तिष्क में यह बात जमाना चाहते थे कि अगर आर्यों ने बाहर से आकर यहां अपनी सत्ता जमा ली और यहां के मूल निवासियों पर अत्याचार किया तो अंग्रेज भी ऐसा करके कोई गलत काम नहीं कर रहे। आर्यों के भारत के बाहर से आया बतलाने के साथ ही कुछ अंग्रेजों ने आर्य संस्कृति की खिल्ली उड़ाकर उसे स्वयं भारतवासियों की दृष्टि में नीचा दिखलाने की भी कोशिश की। इस प्रकार के षड्यंत्र की शुरुआत 9 अप्रैल, 1866 को सम्पन्न लंदन की एशियाटिक सोसायटी की बैठक में हुई थी। इस बैठक में एडवर्ड थामस नामक एक अंग्रेज ने इन शब्दों में षड्यंत्रों की आग सुलगाने की कोशिश की थी—"आक्सस नदी के किनारे से पशु चराने वाले आर्य आक्रमणकारियों की लहरें आरियाना प्रदेश से होती हुई हिन्दू कुश के रास्ते पहले पंजाब में उतरी, जहां से वेदों के गंवाद गीत गाते हुए वे सरस्वती नदी की ओर आगे बढ़े।

2614 H.A./2001—4A

यहां पर उन्होंने ब्राह्मणी संस्थाओं की रचना की और तक्षशिला में संस्कृत का व्याकरण रचा। अपनी भाषा के लिए आर्यों के पास कोई लिपि नहीं थी। अत: वे जिसके भी सम्पर्क में आए उसी की लिपि अपना ली।" थामस ने अपने इस कथन के पक्ष में कोई ठोस प्रमाण या तर्क नहीं दिए ।

अंग्रेज विचारकों द्वारा अपनाई गई यह षड्यंत्र की नीति इस आधार पर समझ में आ सकती है कि इसमें उनका साम्राज्यवादी और जातिवादी स्वार्थ निहित था, लेकिन भारत के जिन विचारकों ने इस षड्यंत्र को सहज रूप में स्वीकार कर लिया और अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाकर आर्यों को विदेशी बतलाने लगे, उन्हें समझना कठिन है। सम्भवत: तत्कालीन अंग्रेजी सरकार का भय या उसकी चाटुकारिता ही इसका कारण रहा हो। बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई। इस षड्यंत्र में देश के भावी नागरिकों को भी सम्मिलित किया गया। तद्नुसार बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में भी जोर शोर से प्रचारित किया गया कि आर्य भारत के निवासी नहीं थे। वे बाहर से आए थे। खेद है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी इस त्रुटि को सुधारने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार में प्राच्यविद् मैक्समूलर के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने फ्रान्स के यूजीन बर्नूफ के मार्ग दर्शन में 26 वर्षों तक संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य का अध्ययन किया और 1849—74 की अवधि में ऋग्वेद का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके उसे छ: खण्डों में प्रकाशित करवाया। इस प्रकार विश्व साहित्य में ऋग्वेद का प्रथम परिचय मैक्समूलर के माध्यम से ही सम्भव हो पाया। उन्होंने ही विश्व को सर्वप्रथम यह बतलाया कि ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है और विश्व की सभी आर्य भाषाओं के शब्द, संस्कृत की सिर्फ पांच सौ धातुओं से निकले हैं। अंग्रेजी भाषा में आर्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी मैक्समूलर ने ही सन् 1853 में किया। इसलिए, मैक्समूलर की नियत पर शंका नहीं की जा सकती। अपने शोध और अध्ययन के आधार पर उन्होंने जैसा समझा, वैसा लिख दिया लेकिन उनके विचारों पर तत्कालीन परिस्थिति और अंग्रेज मित्रों के प्रभाव को भी नकारा नहीं जा सकता। सम्भव है कमोबेश रूप में जातीयता की भावना ने भी उन्हें उकसाया है।

मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर जे.जी. रोड, प्रो. सेउस एडवर्ड मेयर, ओल्डेन बर्ग, ए.बी. कीथ और ब्रैण्डेस्टीन आदि हैं। इनका कहना है कि मध्य एशिया से ही आर्यों का विभाजन और विस्तार प्रारम्भ हुआ। उनकी एक शाखा पूर्व की ओर गई, जिसे इण्डो ईरानी शाखा कहते हैं। अपने कथन के पक्ष में ये मध्य एशिया और वैदिक सभ्यता की अनेक समानताओं की ओर संकेत करते हैं। एशिया माइनर में बोगजकोई नामक स्थान पर प्राप्त लगभग 1400 ई.पू. के एक लेख में मित्र, वरुण, इन्दु आदि वैदिक देवताओं का उल्लेख है। मिस्र में पक्की मिट्टी की कुछ प्राचीन पट्टिकाएं मिली हैं, जिन पर यशदत्त, अर्जविय, अर्तमन्य तथा शुत्तर्न आदि राजवंशों के नाम उत्कीर्ण हैं। ये राजवंश स्पष्टत: वैदिक युग से साम्य रखते हैं। पश्चिमी एशिया में विभिन्न स्थानों पर की गई खुदाई में अनेक ऐसे मन्दिरों के अवशेष मिले हैं, जिनमें इरैक या ऐर्य्यक नामक देवता का पूजन किया जाता था। विद्वानों के अनुसार

2614 H.A./2001—4B

कालान्तर में इरैक या ऐर्य्यक नामक इस देवता के उपासकों को ही एर्य्य या आर्य कहा जाने लगा। एक मान्यता यह भी है कि पश्चिमी एशिया में फलने फूलने वाले पारसी धर्म के पैगम्बर जरथोस्त्र के पिता शैव ब्राह्मण थे, जो शिव और गणपति का पूजन करते थे। पारसी धर्म के प्राचीन धर्म ग्रन्थों में इन्द्र तथा वरुण आदि देवताओं की चर्चा है तथा उनकी पूजा के शब्दों का उच्चारण, वैदिक मंत्रों के उच्चारण से अद्‌भुत साम्यता रखता है। फारसी के अनेक शब्द भी संस्कृत शब्दों से काफी मिलते हैं। उदाहरणार्थ अस्त (अस्ति), नीस्त (नास्ति) मादर (मात्) पिदर (पितृ), तथा होम (सोम), तथा शीर (क्षीर) आदि। ईरान के अन्तिम शहंशाह रजाशाह पहलवी ने सम्राट कुरुष के शासनकाल की 2500वीं जयन्ती पर प्राचीन निर्देशानुसार जो उपाधि धारण की, वह थी "आर्यमिहिर"। यह उपाधि स्वयंमेव ईरान को आर्य संस्कृति के साथ जोड़ देती है। यह भी तथ्य है कि मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व ईरान के लोग अग्नि पूजक थे, जो वैदिक युग के प्रमुख देवता रहे हैं। ईराक की राजधानी बगदाद का ईसा पूर्व नाम ओपिस (उपस) था। कतिपय विद्वानों के अनुसार यह नाम संस्कृत का प्रतीत होता है। इसी प्रकार पूर्वी अरब राष्ट्र ओमान तथा पश्चिमी अरब राष्ट्र जोर्डन की राजधानी अम्मान आबसंस्कृति के पवित्र शब्द "ओम्" से प्रभावित दृष्टिगत होते हैं। आमीन और अमन शब्दों की भी ओम् से साम्यता है। लगभग 2700 ई. पू. इराक में अस्तित्व में आए और 1600 ई. पू. में ध्वस्त हुए प्रसिद्ध सांस्कृतिक नगर "उर" के नामकरण के पीछे भी संस्कृत का प्रभाव ही है।

कुछ अन्य क्षेत्र भी आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में बतलाए जाते हैं, लेकिन उनके पक्ष में दलीलें बड़ी कमजोर हैं। इन क्षेत्रों में हंगरी, जर्मनी, दक्षिण रूस तथा उत्तरी ध्रुव आदि हैं।

आर्यों को भारत के बाहर से आया हुआ मानने वालों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वे आर्यों के मूल स्थान के प्रश्न का उत्तर स्वयं भारत में बैठकर नहीं तलाशते, अपितु भारत से बाहर जाकर मूल आर्यों के अवशेष तलाशते हैं। यदि इस भारत भूमि पर बैठकर ही आर्यों के मूल निवास स्थान को ढूंढ़ने की कोशिश करें तो इसका उत्तर मिलना कठिन नहीं होगा। यदि आर्य सचमुच ही बाहर से आते तो ऋग्वेद में उसकी कोई चर्चा अवश्य होती। वे अपने मूल निवास स्थान का नाम या उसकी कुछ विशेषताओं की चर्चा करते। स्पष्ट ही वैदिक ऋचाओं की रचना कुछ दिनों या वर्षों में नहीं हुई। अलग-अलग पीढ़ियों के ऋषि उनकी रचना करते रहे और उन्हें अगली पीढ़ियों को सौंपते रहे। बाद में महर्षि वेदव्यास ने उन्हें संकलित करके व्यवस्थित रूप प्रदान किया। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आर्य भारत में आकर ही विद्वान बने और उससे पहले उनमें ऋचाओं को रचने की क्षमता नहीं थी। यदि आर्य सचमुच ही बाहर से आए तो वेदों की अनेक ऋचाएं उन स्थानों पर भी रची गई होंगी। तब क्या कारण है कि वेदों की सभी ऋचाएं यहीं की नदियों के किनारे बैठकर रची गईं। उनमें भारत की ही मिट्टी और वातावरण की गन्ध है, किसी दूसरे देश का उल्लेख तक नहीं। अवश्य ही मध्य एशिया अथवा अन्य स्थानों पर आर्य संस्कृति के चिह्न मिले हैं, परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि आर्य वहां के मूल निवासी थे। इससे यह प्रमाणित अवश्य होता है कि आर्य वहां पहुंचे थे। आर्य वास्तव में भारत के ही मूल निवासी थे और यहीं से

उनकी शाखाएं ईरान, इराक तथा अन्य स्थानों पर पहुंची। सम्भव है आर्यों को ही पश्चिम एशिया में ईरैक या ऐर्य्यक कहा जाने लगा हो और बाद में इसी नाम से ईरान और इराक का नामकरण हुआ हो। यह भी उल्लेखनीय है कि उन दिनों भारत का भूगोल अफगानिस्तान से भी आगे तक फैला हुआ था। इसलिए उन क्षेत्रों में आर्य सभ्यता के चिह्न प्राप्त होना सहज स्वाभाविक है।

विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं पर यदि दृष्टि डालें तो उनके प्राचीन ग्रन्थों या दन्त-कथाओं में प्राय: उन स्थानों की चर्चा है कि वे मूलत: कहां से आए। ट्यूटन जाति की गाथाओं के अनुसार वे ओदिन के नेतृत्व में पूर्व से आए थे। फारस में वहां के निवासियों को हिन्दूकुश के पूर्व से आया बतलाया गया है, जहां से उन्हें निष्कासित कर दिया गया था। सुमेरी सभ्यता में भी वहां के निवासियों को जल मार्ग से पूर्व से आना बतलाया गया है। मिस्र में कहा गया है कि दक्षिण से आई किसी जाति ने वहां सभ्यता फैलाई थी (भारतीय पुरा इतिहास कोश—अरुण)। इस प्रकार की चर्चा से यही आभास मिलता है कि विश्व की अन्य सभ्यताओं पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आर्य सभ्यता का प्रभाव पड़ा, जो मूलत: भारत के ही निवासी थे।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी आर्यों को भारत का ही मूल निवासी मानते हुए इस बात से इन्कार किया है कि उन्होंने कभी भी भारत पर आक्रमण किया था। इनमें बरो, बाशम, एलफिन्स्टन तथा म्यूर आदि का नाम लिया जा सकता है। टी. बरो ने अपने एक लेख "अर्ली आर्यन्स" में स्पष्ट शब्दों में लिखा "भारत पर आर्यों के आक्रमण का कहीं कोई लिखित उल्लेख नहीं मिलता। पुरातत्व की दृष्टि से भी इसकी पुष्टि नहीं होती"। एलफिन्स्टन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" में लिखा—"न तो वेदों में, न मनुस्मृति में, न अन्य किसी ऐसी पुस्तक में जो मनुस्मृति से प्राचीन हो, कोई ऐसा प्रसंग आया है कि आर्य भारत के बाहर किसी अन्य देश के निवासी थे।" इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान म्यूर ने अपने ग्रन्थ 'ओरिजनल संस्कृत टैक्स्ट' के द्वितीय खण्ड में लिखा—"मैं निष्ठापूर्वक यह स्वीकार करता हूं कि संस्कृत के किसी भी ग्रन्थ में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिसमें आर्यों को विदेशी मूल का माना गया हो। ऋग्वेद में प्रयुक्त दास, दास्य या असुर आदि शब्दों से भी इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि इनका प्रयोग भारत के आर्येतर मूल निवासियों के लिए किया गया हो।"

पृथ्वी के निर्माण के आदिकाल से ही यदि परिस्थिति पर विचार करें तो प्रारम्भ में अग्नि का तपता हुआ गोला, फिर उस पर भाप से निकली पानी की हल्की फुहारें और तत्पश्चात् तेज वर्षा। इस बीच पृथ्वी के आकार प्रकार में भी परिवर्तन चलता रहा। उस वर्षा में सम्पूर्ण पृथ्वी नहा गई, जिसने उसे शीतल बनाया और मनुष्य के रहने लायक बनाया। तब धरती के ऊंचे भाग ही उस जल प्लावन से बाहर रहे और जलीय क्षेत्र से खिसक कर कुछ प्राणियों ने वहीं पर सर्व प्रथम धरती का स्पर्श किया। तरह-तरह की वनस्पतियां भी सर्वप्रथम वहीं पनपीं। स्पष्ट ही हिमालय का क्षेत्र विश्व में सबसे ऊँचा क्षेत्र माना गया है। तब उस क्षेत्र में ही सर्वप्रथम मानव सृष्टि की बात करना असंगत और तर्कहीन नहीं कहा जा सकता। अनेक विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकारा है और समय-समय पर होने वाली खोजों ने भी इसे प्रमाणित किया है। पं. रघुनन्दन शर्मा साहित्य भूषण

द्वारा लिखित ''वैदिक सम्पत्ति'' के अनुसार प्रथम मानव की सृष्टि हिमालय के मानस स्थान पर हुई। हिमालय की ही शिवालिक पहाड़ियों में प्राचीनतम उपमानव ''रामपिथिकस'' के अवशेष मिले हैं। यहीं पर स्तनपाई पशुओं के एक लम्बे सिलसिले की जानकारी मिली है। आधुनिक मनुष्य के निकास की पहली सीढ़ी के रूप से ''रामपिथिकस'' को ही स्वीकारा जाता है। इसका जीवाश्म सर्वप्रथम 1910 ईस्वी में एक भारतीय वैज्ञानिक श्री विनायक राव को शिवालिक पहाड़ियों में प्राप्त हुआ था। इसे 1963 में अंग्रेज वैज्ञानिक साइमन ने सही ढंग से जांच पड़ताल करके ''रामपिथिकस पंजाबीकस'' का नाम दिया। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में विकसित हुए मनुष्यों ने ही अपने अनुभव और योग्यता के आधार पर प्रगति की, और श्रेष्ठ आर्यों के रूप में यहां स्थापित हुए। भारत में ही आदि मानव की उत्पत्ति के बारे में हमारे पौराणिक साहित्य में भी पर्याप्त चर्चा है।

स्पष्ट है इस विकास क्रम में लम्बा समय लगा। पृथ्वी की आयु लगभग 470 करोड़ वर्ष मानी गई है और उस पर मानव को रहते हुए लगभग 20 लाख वर्ष हो गए। आज से 4 करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर मैमलों में प्राइवेट का जन्म हुआ, जो मानव और एप के समान पूर्वज थे। एक करोड़ 40 लाख वर्ष पूर्व भारत में शिवालिक की घाटियों में रामपिथिकस की उपस्थिति रही जो आज के मानव का पूर्वज था। इसके बाद विश्व के अन्य देशों में भी मानव विकास के प्रमाण मिले हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे मानस का विकास हुआ, जिसमें भारत की विशेष भूमिका रही।

भारत का प्राचीन इतिहास हमारे पुराणों में विद्यमान है। इनमें अनेक वंशावलियां और उनके प्रमुख कार्य भी स्पष्ट रूप में दिए हुए हैं। कहा जाता है कि हमारे यहां मूलत: एक ही पुराण था जो मौखिक रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता था। बाद में इसमें अतिशयोक्तियों की भरमार हो गई और उसका वर्गीकरण करके 18 भागों में बांट दिया गया। यदि पुराणों में से अतिशयोक्तियां निकाल दी जाएं तो हम सत्य के निकट पहुंच सकते हैं। वैदिक साहित्य के समान पौराणिक साहित्य में भी कहीं किसी ऐसे स्थान की चर्चा नहीं है, जो प्राचीन भारत से बाहर हो और जिसे आर्यों का मूल निवास स्थान कहा जा सके। आर्यों के मूल में देव और असुर दो जातियों की चर्चा पढ़ने को मिलती है, जो मूलत: एक ही पिता महर्षि कश्यप की सन्तान थे। उनकी माताएं अलग अलग थीं दिति और अदिति। एक ही पिता की सन्तान होने के कारण, प्राचीन साहित्य में यत्र तत्र देवताओं को असुर भी कहा गया है। देवताओं और असुरों में अक्सर संघर्ष होते थे जिनमें प्रारम्भ में असुरों का पक्ष ही भारी रहता था। इसलिए, उस समय असुर अधिक प्रभावशाली थे। प्रारम्भ में असुरों का राजा होता था, जिसके नेतृत्व में देवताओं पर अत्याचार करते थे। बाद में देवताओं ने भी द्यौस पुत्र इन्द्र को अपना राजा बनाया और उसके नेतृत्व में उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त की। कालान्तर में देवताओं के प्रत्येक राजा की पदवी ही इन्द्र हो गई और देवताओं के सभी राजाओं को इन्द्र कहा गया।

देव जाति हिमालय क्षेत्र में निवास करती थी। अथर्ववेद (11-5-19 तथा 4-11-6) तथा शतपथ ब्राह्मण में आए उल्लेख के अनुसार देवता भी आम मानवों के समान ही थे। उनका अपना

सुदृढ़ और शक्तिशाली राज्य था इसलिए, मनुष्य अक्सर उनकी प्रशंसा में मन्त्र पढ़कर उनसे सहायता की अपेक्षा करते थे। ये मंत्र वैदिक साहित्य में काफी बड़ी मात्रा में हैं।

धीरे-धीरे देव जाति की संख्या बढ़ने लगी और पर्वतीय क्षेत्र उनके लिए कम पड़ने लगा। तब एक देव समूह अपने राजा इन्द्र की स्वीकृति लेकर स्वायम्भुव मनु के नेतृत्व में पर्वत से नीचे उतरा और यहां सरस्वती के किनारे अपनी बस्ती बसाई। स्वायम्भुव मनु प्रथम मनु था। कुल सात मनु हुए हैं। अन्तिम मनु वैवस्वत मनु हुए, जिनके समय पर जल प्रलय हुई। समाज को नियमबद्ध और व्यवस्थित करने के लिए वैवस्वत मनु ने ही "मनुस्मृति" की रचना की जो विश्व की आदि संहिता है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के परिवेश में यदि इसका अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि वैवस्वत मनु ने उस समय एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ की रचना की थी। मनु के नाम से ही देवजाति के इस अंश को मानव कहने लगे। मानव सभ्यता के प्रसार में वैवस्वत मनु की उल्लेखनीय भूमिका रही।

स्वायम्भुव मनु के नेतृत्व में जब देव जाति का एक समूह यहां समतल भूमि पर आया, तब यहां अनेक जातियां निवास करती थीं—नाग, गन्धर्व, यक्ष, दानव, मत्स्य, वानर, गरुड़ और निषाद आदि। इनमें नाग जाति सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न और प्रभावशाली थी। वे काश्मीर से लेकर बंगाल तक फैले हुए थे। इनके अनेक कुल थे। इन जातियों में कुछ कुलों से मानवों की मित्रता हो गई और कुछ से उनके संघर्ष चलते रहे। यक्ष जाति के एक अंश से बनी राक्षस जाति से मानवों का लम्बा संघर्ष चला। चूंकि असुरों के समान राक्षस भी मानवों के शत्रु थे, इसीलिए, अक्सर असुर और राक्षस शब्द को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। वास्तव में ये दोनों जातियां अलग थीं। इसी प्रकार दानव जाति भी अलग थी, लेकिन राक्षसों से मित्रता हो जाने के कारण दानव भी उसी रूप में स्वीकारे जाने लगे।

मानवों को यदा कदा आवश्यकतानुसार संघर्ष अवश्य करना पड़ा, परन्तु उनकी मूल भावना सदैव मित्रता की ही रही। इसीलिए, यक्ष, गन्धर्व और नाग जैसी अनेक जातियां मानवों में शामिल हो गईं। संस्कृति के आदान प्रदान और समन्वय के दौर में मानवों ने इन जातियों की अनेक परम्पराओं और देवताओं को अपने अन्दर शामिल कर लिया। आज से विभिन्न संस्कृतियां मिल जुल कर इतनी अधिक एकाकार हो गई हैं कि अब यह कहना कठिन है कि हमारा कौन सा देवता या कौन सी परम्परा, किस जाति की देन है। मानव सभ्यता केवल उत्तरी भारत तक सीमित नहीं रही, अपितु यह दक्षिण भारत तक फैल गई और इसकी शाखाएं विश्व के सुदूर क्षेत्रों तक पहुंची।

स्वायम्भुव मनु के नेतृत्व में देव समूह नीचे समतल पर उतरा उसने मानव संस्कृति का प्रसार किया। इनकी जाति मानव कहलाई, आर्य नहीं। आर्य तो इनके एक दूसरे को संबोधन करने का शब्द था। इसलिए, प्रारम्भ में आर्य गुण वाचक शब्द था, जाति वाचक नहीं। हमारे प्राचीन वैदिक साहित्य में भी "आर्य" शब्द का प्रयोग गुणवाचक शब्द के रूप में ही हुआ है। आर्य का अर्थ होता है श्रेष्ठ व्यक्ति। यह उसी प्रकार से एक सम्बोधन है, जिस प्रकार आजकल हम श्रीमान् या

महोदय, आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है—''आर्यव्रता विसृजन्तो अधिक्षमी'' (10-65-11) अर्थात् भूमि पर सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकारादि व्रतों को धारण करने वाले ही आर्य हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है ''कृणवन्तो विश्वमार्यम्'' अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाएं। वैदिक साहित्य में बार बार आए इस आर्य शब्द के कारण ही सम्भवत: 1853 में मैक्समूलर ने सर्वप्रथम जाति सूचक रूप में ''आर्य'' शब्द का प्रयोग किया। बाद में मैक्समूलर ने भी अपनी गलती स्वीकारी और 1889 में उसने अपने एक भाषण में कहा—''आर्य से मेरा मतलब रक्त या अस्थि, बाल या मस्तिष्क की रचना से नहीं है। मेरा मन्तव्य केवल भाषा से है।'' इसी प्रकार ''द्रविड'' शब्द का प्रयोग भी गलत अर्थ में किया गया है। विद्वानों का विचार है कि ''द्रविड'' कोई अलग जाति नहीं थी, अपितु वह आर्यों की ही एक शाखा थी, जो दक्षिण में जा बसी थी। पश्चिमी इतिहासकारों ने ही सम्भवत: उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच वैमन्स्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से इसी प्रकार की बातें गढ़ीं। संस्कृत में ''द्रविड'' शब्द का अर्थ धन होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि व्यापार करने वाले या अन्य किसी प्रकार से धन से सम्बन्धित मानवों को द्रविड कहा जाने लगा। नालन्दा अद्यतन कोष के अनुसार द्रविड ब्राह्मणों का ही एक वर्ग होता है। विद्वानों के अनुसार हड़प्पा और वैदिक सभ्यता के लोग एक ही थे तथा हड़प्पा संस्कृति का विध्वंस आर्यों ने नहीं बल्कि भूमि का धंसना, भूकंप तथा रेगिस्तान के फैलाव आदि प्राकृतिक परिस्थितियों ने किया। यत्र तत्र आपसी सामान्य संघर्ष भी इसके लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों से जो मुद्राएं मिली हैं, उनमें अंकित नाम महाभारत काल के नामों से मिलते जुलते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि ये क्षेत्र सिन्धु सौवीर और मद्र नामक जनपदों के थे, जिनकी महाभारत में उल्लेखनीय भूमिका रही। हमारे सिन्धु घाटी और वैदिक देवी देवताओं की मुख मुद्राएं, आकृति और आभूषण आदि भी एक जैसे हैं। डा. फतेहसिंह के अनुसार सिन्धु लिपि में वैदिक देवताओं का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि सिन्धु संस्कृति, आर्य सभ्यता का ही अंश थी। अलग नहीं। डेविड प्रावले ने भी अपने ग्रन्थ ''दि मिथ ऑफ द आर्यन इनवेजन ऑफ इंडिया'' में इसी तथ्य का समर्थन किया है।

वेदों में जिस प्रकार जाति सूचक के रूप में आर्य शब्द नहीं हैं, उसी प्रकार आर्य देश के रूप में आर्यावर्त का नाम भी नहीं है। आर्यावर्त शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मनुस्मृति के श्लोक संख्या 2-22 में हुआ है। दूसरी तरफ मनुस्मृति के ही श्लोक संख्या 2-17 में आर्यावर्त के स्थान पर ब्रह्मावर्त शब्द का प्रयोग किया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार आर्यात की सीमाएं उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल तक हैं। डा. राजबली पाण्डेय (हिन्दू धर्म कोष) के अनुसार ब्रह्मावर्त का क्षेत्र कुरूक्षेत्र के आसपास तक था। इन विद्वानों के विचारों से तो ऐसा लगता है कि आर्यावर्त और ब्रह्मावर्त दोनों क्षेत्र अलग-अलग थे। वैसे आर्य देश के बारे में जो सीमाएं इस समय स्वीकार की जाती हैं, उसे ये दोनों ही व्याख्याएं बहुत सीमित कर देती हैं। मनुस्मृति में आए शब्द आर्यावर्त से यह अवश्य प्रतीत होता है कि आर्य अपनी भूमि को श्रेष्ठ और पवित्र मानते थे। सम्भवत: इसी गुणवाचक शब्द के रूप में मनुस्मृति ''आर्यावर्त'' शब्द का प्रयोग किया गया।

कालान्तर में इस शब्द का धीरे-धीरे देश के रूप में भी प्रयोग किया जाने लगा। प्राचीन ग्रन्थों में देश के नाम के रूप में हिमवर्ष और कुमारिका नाम भी देखने को मिलते हैं।

आर्यावर्त की सीमाएं सुदूर क्षेत्रों तक फैली हुई थीं। मनुस्मृति के अनुसार पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक का क्षेत्र आर्यावर्त है (मनुस्मृति 2/22) मार्कण्डेय पुराण (54) के अनुसार आर्यावर्त के दक्षिण पश्चिम और पूर्व में महासागर है तथा उत्तर में धनुष की प्रत्यंचा के समान हिमालय है। वायु पुराण (13/4) तथा कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार इसके पूर्व में किरात, पश्चिम में यवन, दक्षिण में आन्ध्र और उत्तर में तुरूक निवास करते हैं। इस प्रकार अफगानिस्तान तथा ईराक तक का क्षेत्र उस समय आर्यावर्त में सम्मिलित था। कतिपय अन्य शोधकर्ताओं के अनुसार प्राचीन भारत की सीमा चीन सागर से लाल सागर पर्यन्त विस्तृत थी। उत्तर में हिमालय, दक्षिण पूर्व में बर्मा, थाईलैंड, मलेशिया, वीयतनाम आदि, पश्चिम में शिनाई पर्वतमाला तथा जम्बू नदी (आम दरिया-तर्किस्तान) आदि तक का क्षेत्र इसकी सीमाओं में शामिल था। प्रसिद्ध वेदज्ञ श्री मधुसूदन ओझा के अनुसार आर्य संस्कृति की सीमा मध्य एशिया से बर्मा तक थी। ब्रह्म पुराण मार्कण्डेय पुराण तथा स्कन्द पुराण में भारत (जम्बू द्वीप) के नौ उपद्वीप बतलाए गए हैं। वे थे इन्द्र द्वीप (एंडमन द्वीप), कशेरूमान (सेलेवीस), ताम्रपर्ण (श्रीलंका), गभस्तिमान (मलुक्का), नागद्वीप (नीकोबार), सौभ्यद्वीप सुमात्रा, गान्धर्व (जावाद्वीप समूह), वारूण (बोर्नियो), कुमारिका (भारत खण्ड-उज्जेयिनी से पूर्व की ओर)। भागवत पुराण में प्राचीन भारत के आठ उपद्वीप इस प्रकार बतलाए गए हैं—स्वर्ण प्रस्थ (बोर्नियो, जावा, सुमात्रा, अंडमान निकोबार, सिंगापुर), चन्द्र शुक्ल (फिलीपीन द्वीप समूह), आवर्तन (बर्तानिया), नारमणक (नार्वे), मन्दरहरिण, (नेविया जेमल्या), पांचजन्य (जापान), सिंहल (श्रीलंका), तथा लंका द्वीप (लक्केदीव-मालदीव)। इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत भूमि पर अपनी व्यवस्था मजबूत करके आर्यों के वंशज सुदूर क्षेत्रों में गये और मानव संस्कृति के प्रसार के निमित्त वहां अपने राज्य स्थापित करके वहीं बस गए। स्थान और वातावरण में परिवर्तन होने से शनैःशनैः उनकी भाषा, खान पान और पूजा पद्धति में भी परिवर्तन आया। उन स्थानों के मूल निवासियों के संपर्क में आने से भी ये परिवर्तन आया। उन स्थानों के मूल निवासियों के संपर्क में यहां के ऋषि महर्षि आवश्यकता के अनुसार उन क्षेत्रों में जाते भी रहते थे। उदाहरण के लिए पारसियों के धर्म ग्रन्थ जेन्दावस्था में महर्षि व्यास के ईरान आगमन की, 65वीं आयत में इस प्रकार चर्चा की गई है "अकनू बिरहमने व्यास नाम अज हिन्द आमद बसदान के अकिल चुनानस्त"। इसी प्रकार 163वीं आयत में लिखा गया—"चूं व्यास हिंदी बलख आमद गस्तस्य जरतुश्तरा बखवांद।" अर्थात् जब हिंद का रहने वाला व्यास बलख़ (ईरान) आया तब राजा गस्तास्य ने व्यास से बातचीत हेतु जरतुश्त को बुलाया। इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि पारसी भाषा, संस्कृत से आश्चर्यजनक साम्यता रहती है। सम्भवतः इस साम्यता के पीछे प्रवासी आर्यों का ही योगदान रहा होगा। इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि महर्षि व्यास के समय पर ही आर्यावर्त को पश्चिमी एशिया के लोग हिंद के नाम से संबोधित करने लगे थे। यह भी उल्लेखनीय है कि इन सब बातों में कुछ वर्ष नहीं, अपितु हजारों वर्ष लगे।

ऋग्वेद हमारे देश के लिए सर्वप्रथम सप्त सिन्धव (सप्त सिन्धुषु) शब्द का प्रयोग किया गया—

य ऋक्षादंसोमुचद यो वार्यात् सप्तसिन्धुषु।

वधदसिस्य तुवि नृम्ण नीनमः ।। (ऋग्वेद 8-24-27)।

यद्धपि कुछ विद्वानों ने सप्त सिंधु का अर्थ शिर स्थान की सात इन्द्रियों (2 आंख, 2 कान 2 नासाछिद्र, 1 मुख) के लिए भी किया है, परन्तु अधिकांश विद्वानों को यह स्वीकार नहीं। ''सप्त सिन्धु'' का स्वीकार्य अर्थ सात नदियों वाले देश से ही है। इन सात नदियों के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकांश विद्वान सात नदियों में पंजाब की पांच नदियों के अतिरिक्त सिन्धु तथा सरस्वती नदियों को शामिल करते हैं। चूंकि ऋषि महिर्षियों ने अपना अधिकांश साहित्य इन नदियों के क्षेत्र में ही लिखा, सम्भवतः इसीलिए उन्होंने अपने क्षेत्र को सप्तसिन्धु का संबोधन दिया। कालान्तर में जब सिन्धु शब्द अधिक प्रचलित हो गया तो विदेशी भी हमारे देश को सिन्धु प्रदेश कहकर पुकारने लगे। अलबरुनी ने अरब सागर को भी सिन्धु सागर लिखा। प्राचीन पारसियों की की जेन्द भाषा में प्रायः ''स'' को ''ह'' के रूप में उच्चारित किया जाता था। इसी क्रम में उन्होंने संस्कृत के अनेक शब्दों के ''स'' को ''ह'' बनाकर अपनी जेन्द भाषा में सम्मिलित किया। आर्य समाज के विद्वान पं. रघुनन्दन शर्मा ने अपनी पुस्तक ''वैदिक सम्पत्ति'' में इस प्रकार कुछ शब्दों के उदाहरण दिए हैं:—

संस्कृत	जेन्द	अर्थ
असुर	अहुर	ईश्वर
सोम	होम	वनस्पति
सप्त	हफ्त	सात
सेना	हेना	फौज
मास	माह	महिना

''स'' को ''ह'' कहने के इसी क्रम में, सिन्धु नदी के नाम पर आर्यावर्त के निवासियों को हिन्दू कहा जाने लगा और हमारे देश को ''हिन्द'' कहा जाने लगा। यहां भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि ''स'' को ''ह'' कहने का अर्थ यह कदापि नहीं कि पारसी भाषा में ''स'' अक्षर है ही नहीं। वहां अब भी अनेक शब्दों में ''स'' का उच्चारण होता है। उच्चारण की सुविधा के अनुरूप कुछ ही शब्दों के ''स'' को उन्होंने ''ह'' में ढाला। आम व्यवहार में भी यह बात अक्सर देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े ''सिंह'' शब्द को हींग कहा जाता है। इका अर्थ कदापि नहीं कि राजस्थानी भाषा में ''स'' अक्षर है ही नहीं।

कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दू शब्द, घृणा के प्रतीक के रूप में मुसलमानों की देन है। मगर यह विचार गलत है। "हिन्दू" शब्द तो उस समय से प्रचलन में है जब मुस्लिम धर्म का नाम निशान तक नहीं था। पारसियों के धर्म ग्रन्थ जेन्दावस्था में "हिन्द" शब्द का उल्लेख है जो इस बात का प्रमाण है कि यहां के निवासियों को उस समय "हिन्दू" ही कहा जाता था। पारसियों के वेद "अवेस्ता" में स्पष्ट रूप में "हिन्दू" शब्द का प्रयोग किया गया है—"अज़ॅम यो अहुरो मज्दाओं यो हप्त हिन्दू" (वंदिदात 1-18)। ईसा पूर्व 522-486 के बेहिस्तून के शिला लेखों में भी हिन्दू शब्द का प्रयोग किया गया है। चीन यात्री ह्वेनसांग ने भी भारत को हिन्दू देश के रूप में संबोधित किया है।

इसमें कोई शक नहीं कि फारसी भाषा के कुछ शब्द कोशों में "हिन्दू" शब्द के बहुत गन्दे अर्थ (कैदी, गुलाम, काफिर, चोर, बेईमान) दिए हुए हैं, मगर ये शब्द बहुत बाद के हैं और कोशाकारों की मानसिकता के पारिचायक हैं। यह कोश उस समय के बने हुए हैं, जब ईरान को मुसलमानों द्वारा गुलाम बना लिया गया था। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि महमूद गजनवी काफी बड़ी संख्या में यहां से हिन्दुओं को गुलाम बनाकर ईरान ले गया था। अलबरूनी के अनुसार इन हिन्दुओं से खुरासान ठसाठस भर गया था। इन हिन्दुओं पर ईरान में बेहद अत्याचार किए गए और उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए मजबूर किया गया। तब हिन्दुओं ने भी अत्याचार के विरुद्ध और अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। सम्भवत: उसी अवधि में हिन्दू शब्द के इस प्रकार के अर्थ शब्द कोश में जोड़े गए। शासन की विशाल शक्ति के सामने हिन्दू अपने संघर्ष में सफल नहीं हो सके, यह अलग बात है। इससे स्पष्ट है कि मूलत: हिन्दू शब्द न तो मुसलमानों की उपज है और न उसका अर्था ही गन्दा था। बाद में कुछ विद्वानों ने फारसी भाषा के इन आधुनिक शब्द कोशों के आधार पर ही "हिन्दू" शब्द का यह अनर्थ कर दिया। मगर इसके लिए वे तथाकथित विद्वान ही दोषी हैं, हमारा यह शब्द नहीं। आज भी फरसी और अरबी भाषा के अनेक शब्दों में हिन्दू शब्द का प्रयोग बड़े सम्मान के साथ होता है और उनमें कहीं घृणा की भावना नहीं। उदाहरणार्थ हिंदस (गणित), हिन्दुआन (तरबूज), हिन्दू ए फलक (शनिग्रह), हिन्दू ए चश्म (आंख की पुतली), हिन्दूजन (साध्वी, पतिव्रता स्त्री), हिन्दू कश (एक पर्तत का नाम) आदि।

प्राचीन चीन में, भारत का एक नाम "इन्तुको" भी मिलता है। चीनी भाषा के इस शब्द का अर्थ होता है यज्ञ का देश। यज्ञ के लिए वैदिक साहित्य में "इन्दु" शब्द भी है। सम्भवत: इस "इन्दु" शब्द से ही इन्तुको शब्द बना। चीनी यात्री ह्वेनसांग का विचार है कि हिन्दू शब्द की उत्पत्ति "इन्दु" शब्द से हुई है। चन्द्रमा से "इन्दु" का अर्थ लेते हुए और उसे महात्मा बुद्ध के साथ जोड़ते हुए उसने लिखा कि महात्मा बुद्ध रूपी सूर्य के अस्त हो जाने के उपरान्त यहां के अन्य महात्मा इन्दु के समान हैं और विश्व के अन्य महात्मा उनके सामने केवल तारे के समान हैं।

जिस प्रकार से हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के पीछे सिन्धु नदी की विशेष भूमिका रही, उसी प्रकार "इंडिया" नाम के पीछे भी इसी नदी की भूमिका रही। यूनानी भाषा में "ह" तथा "द" का लोप होने के कारण "हिन्द" वहां जाकर "इंड" हो गया और हमारी सिन्धु नदी को

''इंडस'' कहा जाने लगा। सम्राट चन्द्र गुप्त के शासन काल में भारत आए यूनानी राजपूत मेगस्थनीज ने भारत पर लिखी अपनी पुस्तक का नाम ''इंडिका'' रखा था। यही नाम आगे चलकर ''इंडिया'' बन गया। भाषा विज्ञान के अनुसार सिन्धु, हिन्दू, इंड, इंडोस, इंडिया शब्द एक दूसरे से संबन्धित हैं और इनके मूल संस्कृत शब्द सिन्धु, सैन्धव अथवा सिन्धव हैं। भारत में ''हिन्दू'' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सम्भवत: संस्कृत ग्रन्थ ''मेरुतंत्र'' में ही आठवीं शताब्दी में किया गया। महाराज शान्तनु के पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ गया। इस प्रकार हिम वर्ष, कुमारिका, आर्यावर्त और ब्रह्मावर्त आदि नामों से सम्बोधित किए जाने वाले हमारे देश के नाम अब तीन हो गए—हिन्दुस्तान, भारत और इंडिया।

देव (मानव) जाति के समान असुरों ने भी देश के बाहर अपना प्रसार किया और साम्राज्य बनाए। इराक, असुर संस्कृति का केन्द्र था। वहां का राजा असुर बानीपाल (ई. पू. 650) एक प्रसिद राजा हुआ है, जिसने मिट्टी की पट्टिकाओं पर इतिहास तथा संस्कृति की बातें अंकित करवाई थीं। इस प्रकार की 40,000 पट्टिकाएं, अंग्रेज इंग्लैण्ड ले गए थे, जिनके बारे में अब कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। असुर सम्राट सलमान नसर (शालिवाहन असुर) ने इज़राइल पर विजय भी प्राप्त की थी (ई.पू. 859-825)। यह जानकारी छ: फुट लम्बे एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण दृश्य में दी हुई है, जो ईराक में नामरूद नामक स्थान पर खुदाई में पाया गया था और जो अब लंदन के संग्रहालय में रखा हुआ है। पश्चिमी एशिया में भारतीय सेना के जाने और वहां युद्ध में भाग लेने के भी प्रमाण मिले हैं। असीरिया में 850 ई.पू. का एक चौकोर प्रस्तर स्तम्भ प्राप्त हुआ है, जिसमें भारतीय यात्री और हाथी आदि उत्कीर्ण किए गए हैं। 1300 ई.पू. इज़राइल के इतिहास में लोहे के नौ सौ रथों वाली एक सेना (नवशात रथ) का वर्णन है जो हेरोसेश हगोयम नामक स्थान पर पड़ाव डाले रहती थी। इस सेना का नेतृत्व सिसेरा (शिशिर) के हाथों से था विद्वानों की मान्यता है कि यह सेना हिन्दुस्तान की थी, जो युद्ध में मित्रों की सहयता के लिए इज़राइल गई थी।

दुर्भाग्यवश प्राचीन साहित्य तथा पुरातत्व महत्व की सामग्री का काफी बड़ा भाग बर्बर आक्रमणकारियों द्वारा या तो नष्ट कर दिया गया, या उसे ले जाकर-इधर उधर दब गया। पारसी धर्म के अनुयायी सम्राट कुरुष को जब सिकन्दर ने पराजित किया तो उनके पारसीपालिस नगर में स्थित पुस्तकालय में आग लगा दी गई, जिसमें लगभग एक माह तक दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकें निरन्तर जलती रहीं। यदि वह पुस्तकालय आज हमारे पास होता तो निश्चित ही हमारे पास पारसी, असुर और आर्यों के बारे में आज से कहीं अधिक प्रामाणिक जानकारी होती। इसी प्रकार सन् 1851 में एक अंग्रेज सर आस्टिन लेयर्ड इराक के निनवे नगर से इतनी अधिक पुरा सामग्री अपने साथ इंग्लैण्ड ले गया कि अगर उन्हें एक साथ रखकर नापा जाए तो उसकी लम्बाई लगभग सवा तीन किलोमीटर होगी। इराक की प्राचीन असुर राजधानी नमरुद से भी काफी अधिक पुरा सामग्री यूरोप के लोग अपने यहां उठा ले गए। प्राचीन युग की वास्तविका को जानने में ईरान और इराक के कट्टर पंथी लोग भी प्राय: बाधा बनते हैं, क्योंकि वे मुस्लिम सभ्यता के पहले के अतीत में रुचि नहीं रखते। वे नहीं चाहते कि लोग यह याद रखें कि वे मूल रूप में कुछ और थे तथा मुस्लिम

आक्रमणकारियों ने उनसे अत्याचार के द्वारा धर्म परिवर्तन करवाया। आर्य सभ्यता के प्रसार वाले, भारत सहित विश्व के अन्य देशों में भी, वस्तु स्थिति को जानने में यह धार्मिक कट्टरता एक बड़ी बाधा है।

प्राप्त तथ्यों से यह निश्चितत: प्रमाणित हो जाता है कि आर्य मूलत: भारत के ही निवासी थे। उन्होंने मानव संस्कृति का प्रसार किया तथा श्रेष्ठ होने के कारण उन्हें आर्य कहते थे। मानव सभ्यता के प्रचार और प्रसार के लिए ही वे सुदूर क्षेत्रों तक गए और अपने राज्य स्थापित किए।

10/611, कावेरीपथ, मानसरोवर—जयपुर—302020 (राजस्थान)

दक्षिणी गुजरात की जनजातीय बोलियां एवं नागरी लिपि

—डॉ. मधुकर पाडवी

गुजरात प्रदेश : नामकरण एवं सीमा :—भारत के जिस भू-भाग को वर्तमान में गुजरात कहा जाता है वह भारत के पश्चिमी भूभाग में स्थित होने के कारण पश्चिम भारत के अंतर्गत परिगणित किया जाता है।

वर्तमान में गुजरात राज्य भारत संघ का सत्रहवां राज्य है। यह प्रदेश 21.1° उत्तर एवं 24.7° उत्तर अक्षांश तथा 68.4 पूर्व एवं 74.4° पूर्व रेखांश के बीच है।

गुजरात के उत्तर में मारवाड़ (राजस्थान), उत्तरपूर्व में मेवाड़ (राजस्थान), पूर्व में मालवा (मध्य प्रदेश) एवं खानदेश (महाराष्ट्र), दक्षिणपूर्व में महाराष्ट्र का नासिक जिला व दक्षिण में कोंकण (महाराष्ट्र) एवं पश्चिम में अरब सागर है। जबकि उत्तर पश्चिम में सिंध (पाकिस्तान) है।

गुजरात राज्य का क्षेत्र विस्तार 1961 ई. की जनगणना के अनुसार 1,87,115 चौरस किलोमीटर (72245 वर्ग मील) था। बाद में भारत-पाकिस्तान के बीच पश्चिमी सीमा में कमी हुई। गुजरात का क्षेत्र विस्तार भारत संघ के समग्र क्षेत्र का लगभग 17 प्रतिशत है।

गुजरात का इतिहास ई. पू. की चौथी शताब्दी के अंतिम चरण से प्रारंभ होता है, जबकि इससे पूर्व मानव संस्कृति का इतिहास आद्य पाषाणयुग से शुरू होता है। 1 मई, 1960 ई. से गुजरात भारत संघ के एक राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। इस प्रदेश के लिए 'गुजरात' नाम प्रयुक्त होने के पूर्व सोलंकी शासन युग (10वीं शताब्दी) में इस प्रदेश के पश्चिम क्षेत्र को सुराष्ट्र एवं कच्छ नाम से, तो कभी उत्तर में आनर्त नाम से तो कभी दक्षिण में 'लाट' नाम प्रयुक्त होता था। 'गुजरात' नाम इस प्रदेश के लिए सोलंकी युग में प्रयुक्त हुआ।

10वीं शताब्दी में उत्तर गुजरात में उत्तर के सोलंकियों (चौलुक्यों) की सत्ता प्रस्थापित हुई। इससे पहले दक्षिण राजस्थान के भिल्लमाल प्रदेश के लिए प्रयोजित 'गुर्जर' नाम गुजरात के नवप्रस्थापित राज्य के लिए प्रयुक्त हुआ। 'लाट' नाम दक्षिण (तथा मध्य) गुजरात के लिए प्रचलित रहा। आगे चलकर 'लाट' नाम दक्षिण गुजरात तक सीमित रहा। सोलंकी शासन की सत्ता जैसे-जैसे दक्षिण में फैलती गई वैसे-वैसे गुर्जर नाम का प्रचलन बढ़ता गया और अन्ततः समस्त गुजरात के लिए प्रयुक्त हुआ। आगे चलकर गुर्जर देश या गुर्जरभूमि प्रथम ज्ञात प्रयोग वाघेला काल के दौरान तेरहवीं शताब्दी में मिला इससे पहले ही वह सूचित हुआ।

मुस्लिम शासन काल में भी इस प्रदेश के लिए 'गुजरात' नाम प्रयुक्त होता रहा, जिसमें सौराष्ट्र व कच्छ का भी समावेश होता था। यह नाम मुगल व मराठा काल में भी जारी रहा परंतु ब्रिटिश सरकार ने उसके कुछ भागों को एकत्र कर मुंबई इलाके के जिले के रूप में जोड़ना शुरू किया तथा स्थानीय राज्यों के भिन्न-भिन्न समूहों के लिए एजेंसियां रची जाने लगी तब से राजनैतिक दृष्टि से गुजरात छिन्न-भिन्न हो गया तथापि भाषिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से गुजरात का अस्तित्व बना रहा और दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता गया। आज़ादी के उपरान्त मुंबई इलाके के स्थान पर मुंबई राज्य बना और स्थानिक संस्थानों के विलीन होने पर उसके कुछ जिलों का समावेश किया गया और अंतोगत्वा 1960 में मुंबई राज्य का भाषाकीय दृष्टि से विभाजन हुआ तब एक प्रशासनिक क्षेत्र के रूप में गुजरात राज्य अस्तित्व में आया। वर्तमान में यह नाम सौराष्ट्र तथा कच्छ समेत समस्त गुजराती भाषी प्रदेश के लिए प्रयुक्त होता है।

दक्षिण गुजरात :—प्रस्तुत आले ख का क्षेत्र चूंकि दक्षिण गुजरात से है इसलिए यहाँ दक्षिण गुजरात की चर्चा करना अधिक समीचीन होगा। यहां दक्षिण गुजरात से तात्पर्य है गुजरात का दक्षिणी भू-भाग। विद्वान इस क्षेत्र का उल्लेख प्रागेतिहासिक युग से जोड़कर करते हैं। पौराणिक युग में यह क्षेत्र अपरांत क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध था। लाट प्रदेश भी इसी के अंतर्गत आता है। दक्षिण में इसका क्षेत्र वर्तमान महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश तक था। यहां संक्षेप में वर्तमान दक्षिण गुजरात का विवरण दिया जा रहा है।

दक्षिण गुजरात की सीमारेखा :—अक्षांश 20.12° उत्तरी से 22.13° उत्तरी रेखांश 72.88° से 73.57° पूर्व। उत्तर में बड़ौदा जिला (गुजरात) दक्षिण में थाणा जिला (महाराष्ट्र) पूर्व में खानदेश व नासिक जिला (महाराष्ट्र) पश्चिम में अरब सागर।

प्रादेशिक सीमाएं :—गुजरात का दक्षिणी भाग जिसकी वर्तमान स्थिति इस प्रकार है।

क्रम सं.	जिला	विस्तार चो.कि.	तालुका	ग्राम-संख्या	आबादी 1991 की जनगणना	महत्त्वपूर्ण स्थल
1	2	3	4	5	6	7
1.	भरूच	9034	11	1217	154614	भरूच, अंकलेश्वर, जंबुसर, आमोद, राजपीपला, दहेगाम, कावी, झगडिया
2.	सूरत	7745	13	1360	3397900	सूरत, उधना, हजीरा, व्यारा, बारडोली, सोनगढ़, उकाई
3.	वलसाड	5288	8	832	2173672	वलसाड, नवसारी, बीलीमोरा, वापी, धरमपुर, वांसदा, उदवाडा, उमरगाम

1	2	3	4	5	6	7
4.	डांग	1778	1	312	144091	आहवा, सापुतारा, वघई
5.	दमण	—	1	23	62101	दमण
6.	दादरा-नगर हवेली	491	1	72	138477	सेलवास, दादरा, नरोली

गुजरात की कुल आबादी का 18.5%

मौसम :— उष्णतामान :— 7 से°. फरवरी 45 से°. मई।

लघुतम तापमान :— 4.4° से 39.1° — 1929

गुरूतम तापमान :—45° से. मई 1956

वर्षा :—60 से.मी. (जंबुसर) 250 से.मी. घरमपुर

प्राकृतिक रचना :—प्राकृतिक रचना की दृष्टि से तीन विभाग किए जा सकते हैं—

(1) पूर्व पहाड़ी प्रदेश :—सातपुड़ा व सह्यांद्रि रैंज. औसत 2000 फुट ऊंचाई।

(2) मध्य का समतल उर्वर बेसर, काला, गोराट प्रदेश।

(3) पश्चिमी समुद्रतटीय खारी खांजण युक्त जमीन।

नदियां :—भरूच (18), सूरत (37), वलसाड (10), डांग (4) छोटी-बड़ी कुल 35 नदियां, अनेक तालाब, कुएं एवं वाव तथा नहरों के कारण प्राकृतिक समृद्धि की विपुलता का नजारा दक्षिण गुजरात प्राचीन समय से ही काफी प्रचलित रहा है।

❁ इस क्षेत्र के साथ मंत्र-तंत्र कुशल भृगुओं का सम्बन्ध।

❁ भृगुओं एवं शुनरशेश, जरूत्कार, आस्तिक, आपस्तम्ब, शुक्र आदि ऋषि, महाप्रतापी परशुराम द्वारा आर्य संस्कृति का नर्मदा घाटी तथा दक्षिण भारत में प्रसार, भृगुओं के निवास से 'भृगुकच्छ' प्रदेश, काश्यप तापी तट से सम्बन्धित, गौतमीपुत्र सातवाहन पैश्रु।

❁ पौराणिक नाग जाति का स्थान भी इसी प्रदेश में—नाग जाति का स्थान नर्मदा से सह्यादि के समुद्र तक माना गया। कुछ विद्वान नागों को असुरों की एक उपजाति भी मानते हैं। कर्काटक नागों के अग्रगण्य का तीर्थ स्थल तापी एवं पूर्णा, अंबिका दोआब में। नवसारी के आसपास के क्षेत्र को 'नागमंडल' कहा जाता था।

❁ पौराणिक समुद्र मंथन भी इसी क्षेत्र से सम्बन्धित

❁ आर्य-अनार्य-नाग संस्कृतिका समन्वय

❁ अमरकाय अश्वत्थामा का सम्बन्ध भी इसी क्षेत्र से

❁ यहां के आदि निवासी (आदिवासी-जनजातियां) भील, दुबला, ढोड़िया, चौधरा, वारली प्रागेतिहासिक काल यहां के मूल निवासियों के वंशज हैं, जब कि कोली पाषाण युग की एक अन्य जाति के वंशज माने गए हैं।

गुजरात की अनुसूचित जनजातियां (परिशिष्ट 10) :—भारत सरकार के मिनिस्ट्री ऑफ लॉ, जस्टिस एण्ड कंपनी अफेयर्स के 20 सितम्बर, 1976 के एक्ट नं. 108 के अनुसार

अनुसूचित जातियों (आदिवासी) की सूची :—

1. बरड़ा
2. बाबचा, बामचा
3. भरवाड (आलेच, गिर एवं बरड़ा जंगल के नेस क्षेत्र में)
4. भील, भीलगरासीया, ढोलीभील, डुंगरीभील, डुंगरीगरासीया, मेवासीभील, रावलभील, तडवीभील, भागलीआ, भीलाला पवार, वसावा, वसावे।
5. चारण (आलेच, बरड़ा एवं गीर के जंगल के नेस क्षेत्र में)।
6. चौधरी (सूरत एवं वलसाड जिले में)।
7. चौधरा।
8. धानका, तडवी, तेतरीया, वालवी।
9. ढोडीया।
10. दुबला, तलावीया, हलपति।
11. गामित, गामटा, गावित, मावची, पड़वी।
12. गोन्ड, राजगोन्ड।
13. काथोडी, कातकरी, ढोरकाथोडी, ढोरकातकरी, सोनकातकरी।
14. कोंकणा, कोकणी, कुंकणा।
15. कोळी (कच्छ जिले में)
16. कोळी, ढोर, टोकरे कोळी, कोळचा, कोलधा।
17. कणबी (डांग जिला)।
18. नायकड़ा, नायका, चोलीवाला नायका, कापडीया नायका, मोटा नायका, नाना नायका।
19. पढ़ार।
20. पारधी (कच्छ जिला)।
21. पारधी, अडवीचींचर, फणसे पारधी (अमरेली, भावनगर, जामनगर, जुनागढ़, कच्छ, राजकोट एवं सुरेन्द्र नगर जिलों के अलावा)।

22. पटेलीया।

23. पोमला।

24. रबारी (आलेच, बरड़ा एवं गीर जंगल के नेस क्षेत्र में)।

25. राठवा।

26. सीदी (अमरेली, भावनगर, जामनगर, जूनागढ़, राजकोट एवं सुरेन्द्रनगर जिले में)।

27. वाधरी (कच्छ जिला)।

28. वारली (वार्ली)।

29. वीटोकीया, कोटवाकीया, बरोड़ीया।

दक्षिण गुजरात की प्रमुख जनजातियां एवं उनकी बोलियां :—

गुजरात की उपर्युक्त सूची में निर्दिष्ट जनजातियों में दक्षिण गुजरात में निवास करने वाली जनजातियों में क्रमांक 4 पर उल्लेखित भील, भीलगरासीया, ढोलीभील, डुंगरीभील, डुंगरीगरासीया, मेवासीभील, रावलभील, तडवीभील, भागलीया, भीलाला पवार, वसावा, वसावे एवं क्रमांक 6, 7, 8, 9, 10, 11 में आने वाले चौधरी, व चौधरा, धानका, तडवी, तेतरीया, वालवी, ढोडीया, दुबला, तलावीया, हलपति, गामित, गामटा, गावित, मावची, पड़वी तथा क्रमांक 16, 17, 18 व 28, 29 में निरूपित काथोडी, कातकरी, ढोरकाथोडी, ढोरकातकरी, सोनकाथोड़ी, सोनकातकरी, कोंकणा, कोकणी, कुंकणा, कोकी, कोळी ढोर, टोकरे कोळी, कोळचा, कोलधा, कणबी (डांग जिला), नायकड़ा, नायका, चोलीवाला नायका, कापडीया नायका, मोटा नायका, नाना नायका, वारली (वार्ली) कोटवाळीया प्रमुख जातियां हैं।

इनमें से भील, दुबला, ढोडीया, चौधरी, वारली प्रागेतिहासिक काल के मूल निवासियों के वंशज हैं जब कि कोली पाषाण युग की एक अन्य जाति के वंशज माने गए हैं।

भील जाति मूलतः गुजरात की निवासी मानी गई है। यह जाति अत्यंत प्राचीन है और रामायण महाभारत काल में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

पुराणों में कितनी ही आर्येतर जातियों का उल्लेख मिलता है उनमें नाग जाति सबसे अधिक प्राचीन मानी जाती है। नाग जाति नर्मदा के क्षेत्र में एक समय पर अधिक व्यापक रूप से फैली हुई थी प्राग्ज्योतिष जाति के लोगों के नागशाखा के अंतर्गत माना जाता है।

पुलिंद जाति का उल्लेख एतरेय ब्राह्मण एवं महाभारत में प्राप्त होता है। इस प्रकार अशोक के गिरनारवाले धर्मलेखों में अंध्रों, भोजकों, राष्ट्रिकों एवं पुलिंदों पर उसका शासन था, इनमें से पुलिंद जाति दक्षिण से आई थी इसका उल्लेख है। लाटप्रदेश की सीमा पर, नर्मदा तटीय क्षेत्र में, कच्छ के अखात से ईशान कोण में बनास कांठा में व्याप्त यह पुलिंद जाति इस क्षेत्र के भीलों की पूर्वज रही होगी।

2614 H.A./2001—5A

निषाद प्रजा भी पुरानी है। वाजसनेयी यजु: संहिता के भाष्यकार महीधर उन्हें भिल्ल कहते हैं। कात्यायन-श्रोतसुत्र में निषाद स्थपति का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार निषादों का सरस्वती प्रदेश में राज्य था। निषाद का अंश साबरकांठा वाले भीलों में होगा इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

निषध नामक आर्येतर जाति भी थी जो गुजरात में थी। ब्रह्मांड वायु व वामन पुराण के अनुसार विंध्यप्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र में निषध लोग रहते थे। महाभारत के अनुसार निषधों की राजधानी गिरिपृष्ठ (वर्तमान वागड प्रदेश डुंगरपुर, राजस्थान) थी।

शबर जाति महाभारत में 'दक्षिणापथवासी' के रूप में निरूपित हैं। तोलोमी द्वारा उल्लेखित सुरिअस जाति ही शबर जाति है। यह जाति गुजरात की सीमा पर 2000 वर्ष पूर्व थी और रामायण की शबरी-शबर भिल्ल-भील जाति की थी और पुलिंद, निषाद, निषध, शबर, भील जाति को एक ही वंश के साथ जोड़ती है इसमें कोई सन्देह नहीं। अपने विशाल अर्थ में यह जातियां आर्येतर जातियां थीं और असूर-व नाग जातियां भी इसी के अंतर्गत आनी चाहिए। उपर्युक्त तमाम जातियों का मूल किसी समय एक ही रहा होगा इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए और वह कुल संभवत: आर्येतर-नाग व भील कुल ही रहा होगा यह अनुमान दक्षिण गुजरात की अधिनिवासी जातियों के लिए लगाया जा सकता है। इस प्रकार भील, चौधरी, दुबला, ढोडीया, गामित, वारली एक ही कुल के रहे होंगे। इस बात को डॉ. सुनीतिकुमार चैटर्जी भी स्वीकार करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा भी है—मीणा शकों से भीलों के मिश्रण के परिणाम हैं। मध्य भारत के पटल्ये, तड़वी, माणकर, राठ्या, वारया आदि वर्ग भील प्रजाति के क्षेत्रीय नामान्तर हैं। इसी प्रकार चोंध्रे, धनके, धोड़िए, कोंकण आदि वन्य जातियां भी क्षेत्र भेद से भील प्रजाति के अंतर्गत आती है। दक्षिण गुजरात की जनजातियों के साथ भी यही बात लागू की जा सकती है।

दक्षिण गुजरात की प्रमुख जनजातिय बोलियों में भीली, चौधरी, धोड़ीया, कुंकणा, गामित, वारली इत्यादि बोलियों का समावेश होता है।

भीलों की बोली को भीलीबोली कहा जाता है। इसे भीलाली व भीलारी, भी कहते हैं। यह बोली दक्षिण गुजरात के अलावा दक्षिण व पूर्व गुजरात से लगने वाली महाराष्ट्र की सीमा पर भी बोली जाती हे लोगों की तादाद काफी बड़ी है। इससे इस बोली को फैलाव समझा जा सकता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो यहं कहा जा सकता है कि भीली बोली का क्षेत्र विस्तार दक्षिण गुजरात ही नहीं अपितु उत्तर गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र के भूभाग में भी बोली जाती है इसलिए व्यापक है। भीली बोली काफी समृद्ध है। डॉ. नायक The Bhils : A study नामक ग्रंथ में भीली बोली के सम्बन्ध में लिखते हैं : The Bhili dialects from continuous chain between Rajasthani and Gujarati and Khandeshi and Marathi. उन्होंने डॉ. ग्रियर्सन का मतोल्लेख करते हुए आगे भी लिखा है 'The Marathi influence is only of superficial kind and general character of the dialect remains Gujarati'.

2614 H.A./2001—5B

डॉ. ज्योर्ज ग्रियर्सन ने 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण के अंतर्गत इस बोली का विस्तृत उल्लेख किया है। डॉ. चैटर्जी के अनुसार भीली मध्यप्रदेशीय श्रेणी के अंतर्गत राजस्थानी-गुजराती गोष्ठी का समूह है।

1961 की जनगणना के अनुसार राजस्थान में 385412, मध्यप्रदेश 6501629, गुजरात 41030 एवं महाराष्ट्र राज्य में 212766 व्यक्ति भीली बोली बोलने वाले थे।

भीली भाषा की मौखिक साहित्य परंपरा विकसित है गुजरात में गुजराती लिपि में उसका साहित्य लिखा जा रहा है। गुजराती में 'राम सीतानी वारता' में डॉ. भगवानदास ने भीली साहित्य परंपरा को सुन्दर रूप में चित्रित किया है। इधर 'ढोल' नामक पत्रिका बड़ौदा से प्रकाशित हो रही है वह भी भीली बोली से सम्बन्धित है। बंबई से प्रकाशित 'गद्यपर्व' नामक पत्रिका में भी भीली बोली से सम्बन्धित कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ है। इस बोली पर राजस्थानी, गुजराती, मराठी, हिंदी भाषा का भी काफी प्रभाव है। दक्षिण गुजरात की विकसित प्राचीन जनजातिय बोलियों में सबसे समृद्ध बोली भीली है। दक्षिण गुजरात की अन्य जनजातिय बोलियां इस बोली से काफी प्रभावित है।

दक्षिण गुजरात की चौधरी जनजाति दूसरी प्रमुख जनजाति है। चौधरा भी इसी के अंतर्गत आते हैं। इस जनजाति की बोली को चौधरी बोली कहते हैं। दक्षिण गुजरात में शिक्षा एवं राजनीति में अग्रसर होने के कारण यह जाति इस क्षेत्र की अन्य जनजातियों की तुलना में अधिक विकसित है।

इस जनजाति के लोग अपने आपको राजपूत गोत्र के मानते हैं। मांडवी (सूरत जिला) के पूरखे पंचमहाल के पावागढ़ क्षेत्र से इस प्रदेश में आए थे। एक अन्य किवदन्ती के अनुसार पावागढ़ का पतई रावल राजा अधिक जुल्मी था। उसने गरबो में नव युवती का रूप धारण करके शामिल होने वाली मां कालिका के साथ दुर्व्यवहार किया था और इसी से क्रुद्ध होकर माताजी ने उसे शाप दिया था तथा वह मुस्लिमों के आक्रमण में मारा गया था। इधर वहां के चौधरी उस क्षेत्र से दक्षिण गुजरात में आकर बस गए।

चौधरी बोली का अपना विशेष स्थान है। उसकी लिपि भी गुजराती है। गुजराती-मराठी के शब्दों का प्राचुर्य है। संरचनात्मक स्तर पर यह बोली गुजराती के निकट है पर आंतरिक रचना मराठी से प्रभावित। भीली भाषा का भी उस पर स्पष्ट प्रभाव है।

ढोड़ीया :—यह जनजाति महाराष्ट्र के धूलिया जिले से यहां आई है इसलिए ढोड़ीया कहलाई। यह जनजाति गुजरात की सबसे समृद्ध एवं शिक्षित जनजाति है। ढोड़ीया जनजाति प्रमुख रूप से तापी से वापी तक, सूरत एवं वलसाड तथा थाणा जिले में रहती है। यह जनजाति अन्य विकसित समाजों की तरह मैदानी क्षेत्रों में निवास करती है।

इस जनजाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमुखत: तीन-चार विंवदन्तियां प्रचलित है। एक मतानुसार लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले धनसिंह एवं रूपसिंह नामक दो राजपूत कुमार सौराष्ट्र,

मेवाड़ या मालवा से धुलिया की ओर आए थे। वहां धनसिंह झिण्णी नामक नायका जनजाति की एक सुन्दर युवती पर मोहित हो गया था। रूपसिंह भी झिण्णी की एक सखी छनी पर आसक्त हुआ और दोनों कुमार धुलिया के जंगल क्षेत्र में रहने लगे बाद में आजीविकार्थ या सामाजिक व्यवहारों के कारणों से वे सूरत जिले में आकर बस गये इस प्रकार धुलिया से आए थे इसलिए ढोड़ीया या धोलिया कहलाए। उनके कुल नाना नायक एवं मोटा नायक माने जाते हैं।

दूसरे एक मतानुसार ढोड़ीया धंधुका एवं धोलका के दो राजपूत सरदार धनसिंह व रूपसिंह एक बड़े समूह के साथ अकाल के कारण घरबार छोड़ कर आजीविका की तलाश में नर्मदा के दक्षिण तट पर होकर तापी के मैदानी क्षेत्र में आकर रहे। वे जिस समय यहां आए उनके साथ दुबला, नायका इत्यादि जनजाति के लोग भी थे राजपूत गरासीया भी थे। इन लोगों ने नायका कन्याओं से विवाह सम्बन्ध स्थापित किए उस समय नायकाओं की काली ग्रन्थी के बीच दो श्वेत धागों में गरासली मणि पिरोकर कालीग्रंथी (मंगलसूत्र) बांधी। इन दोनों जातियों के विवाह सम्बन्ध से जो जाति उत्पन्न हुई, उसके वंशजों ने 'धनसिंह' नाम से 'ध' ग्रहण करके धोड़िया नाम ग्रहण किया। एक अन्य मतानुसार ढोड़ीया जाति के लोग अच्छे कृषक भी हैं और कृषि से उत्पन्न धान-अन्न से समृद्ध हुए इसी से वे धोड़ीया कहे जाने लगे। वर्तमान में इस जाति की आबादी सूरत, वलसाड़, डांग (गुजरात) तथा महाराष्ट्र में धूलिया, जलगांव, नासिक, खानदेश, थाणा, दादरा नगर हवेली में है।

धोड़ीया जनजाति की बोली ढोड़ीया बोली कहलाती है। यह बोली मराठी से काफी प्रभावित है। इस जाति की अपनी निराली संस्कृति व भाषा है। यद्यपि शिक्षित परिवारों में अब गुजराती का अधिक प्रचलन होता जा रहा है।

धोड़ीया बोली के भी विविध भेद हैं—डांग वलसाड़, वांसदा, धरमपुर क्षेत्र की अलग भेद हैं तो पारडी, उमरगाम, दमण की बोली भिन्नता लिए हुए हैं। इस बोली में मराठी शब्दों की प्रचुरता है। वर-वधू को धोड़ीया बोली में नवरा-नवरी कहते हैं जो कि मराठी के शब्द हैं।

कुंकणा :—

कोंकणा, कोंकणी, कुंकण जनजाति भी दक्षिण गुजरात की महत्वपूर्ण जनजाति है। ये लोग महाराष्ट्र के कोंकण प्रान्त से गुजरात में आए हैं तथा कोंकण प्रदेश से आए हुए होने के कारण कुंकणा कहलाते हैं तथा उनकी बोली कुंकणा बोली कहलाती है।

इस जनजाति के लोग डांग, वलसाड़, महाराष्ट्र के नासिक व धूलिया जिला तथा थाणे जिले में रहते हैं। विस्तृत रूप से कहें तो यह जनजाति नर्मदा के दक्षिणी तट से सह्यांद्रि की गिरिमालाओं के क्षेत्रों में फैली हुई हैं। प्राचीन काल में नर्मदा के दक्षिणी तट से लेकर कोंकण प्रांत (महाराष्ट्र) के क्षेत्र को अपरांत प्रांत कहा जाता था और अपरांत प्रांत की उत्तरी सीमा दक्षिण गुजरात के नवसारी क्षेत्र तक फैली हुई थी। इसलिए यह जनजाति भी मूलत: इसी क्षेत्र की मूल निवासी मानी जाती है। कुंकणा बोली में प्रकाशित 'ढोल' नामक पत्रिका के संपादक श्री डाह्याभाई वादु के

अनुसार 'जुनां जमानामां—जे लोक दरेने मेरला रहत तेहला दरेने मेर रहनार इसां आखाय जहतां। दरेने मेर रहनेल लोकां माटे फारसीमां—कोंकणा आखायता: ते वरहुन आपणे लोकोनां नांव कुंकणा पडनेल आहा।' अर्थात प्राचीन समय में समुद्र के किनारे पर रहने वाले लोगों को कोंकणा कहा जाता था और फारसी भाषा में समुंद्र किनारे रहने वालों को कोंकणा कहा जाता है उसी से अपनी जाति का नाम कोंकणा पड़ा है।

कोंकणा या कुंकणा बोली का लोक साहित्य काफी समृद्ध है। मावली, कनसारी इत्यादि लोक कथाएं परंपरागत रूप से प्रचलित हैं। इस बोली की लिपि गुजराती है पर यह बोली वास्तव में मराठी व भीली बोली का संमिश्रित रूप है और मराठी शब्दों का प्राचुर्य। आजकल बड़ौदा से 'ढोल' नामक आदिवासी बोलियों की पत्रिका इसी बोली में प्रकाशित होती है। 'ढोल' पत्रिका ने कुंकणा, भील व चौधरी बोली के अंक प्रकाशित किए हैं। जो बड़े रोचक व तथ्यपूर्ण हैं।

गामीत :—

गामीत गुजरात की ही एक जनजाति है और उसका प्रमुख क्षेत्र दक्षिण गुजरात ही है। इस जनजाति के लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे 'ग्रामतल' रहते थे इसलिए गामीत कहलाए।

एक अन्य मतानुसार लाट प्रदेश में मौर्यवंश के शासन के दौरान (ई०स० 319 से 200 ई०पू० तक) मौर्यवंश में इस जाति के सिपाही थे—मौर्यवंश के अंत के उपरान्त वे सिपाही सेना से अलग होकर गांव में रहने के कारण गामीत कहलाए। कुछ लोगों के अनुसार गामीत जनजाति बिहार से यहां आई है तथा बिहार के गिधोर-गामतगांम गिरड़ी नसीकी-गया-बुद्ध गया मधुपुर इत्यादि परगणों में मोघल काल के दौरान चोथ ऊगाही करते थे। उन लोगों को गामीत कहा जाता था।

गामीत जनजाति के लोग वास्तव में प्राचीन काल से ही यहां के आदि निवासी हैं। उनके पूरखों के अनुसार उनके आदि पुरुष डांग जिले के साल्हेर-मुल्हेर किल्ले से घूमते हुए इस क्षेत्र में आये और जमीन प्राप्त होने पर यहीं पर स्थायी रूप से बस गए। डांग के भील राजा आज भी अपने आपको गामीत कहते हैं। इसी प्रकार गामीत जाति के कुछ लोग मुस्लिमों के आक्रमण के कारण सागबारा, राजपीपला की ओर भाग निकले और वहीं गांव बसा कर रहने लगे वे बाद में वसावा कहलाए। इस प्रकार इस जनजाति का सम्बन्ध भील जाति से जुड़ता है।

गामीतों की बोली गामीत बोली कहलाती है और भीली बोली का ही लगभग क्षेत्रीय रूपांतर है तथा गुजराती-मराठी से प्रभावित है। इसकी लिपि नहीं है पर अब गुजराती लिपि को गामीत बोली ने स्वीकार किया है। इधर फाधर रेमंड एस.जे. चौहान ने 'गामीत बोली का व्याकरण' नामक पुस्तक लिख कर इस बोली को समृद्ध किया है गुजराती साहित्य अकादमी द्वारा इस पुस्तक को पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

उपर्युक्त प्रमुख जनजातीय बोलियों के अलावा दक्षिण गुजरात की वारली एवं नायका जनजाति की भी अपनी-अपनी बोलियां हैं। वारली जनजाति की बोली को वारली बोली एवं

नायका जनजाति की बोली को नायकडी कही जाती है। दुबला या हलपति जनजातियां भी इसी क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं और उनकी भी अपनी-अपनी बोलियां हैं। यह बोलियां भी प्रकारान्तर से भीली-गुजराती-मराठी-हिंदी के साथ जुड़ती हैं।

दक्षिण गुजरात की उपर्युक्त सभी जनजातियां एवं उनकी बोलियां भौगोलिक सीमा की दृष्टि से गुजराती भाषा क्षेत्र के अंतर्गत आती है किन्तु इन बोलियों का क्षेत्र काफी व्यापक रूप से फैला हुआ है। एक ओर यह बोलियां गुजरात की सीमाओं में परिव्याप्त है तो दूसरी ओर व्यापक रूप से राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, बिहार की बोलियों से भी कुछ हद तक सम्बन्ध है ऐसी स्थिति में केवल गुजराती लिपि में लिपिबद्ध करने के परिणामस्वरूप इन बोलियों की भौगोलिक व सांस्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा सीमित हो सकती है। इसलिए, किसी एक सर्वसमर्थ लिपि की आवश्यकता है और इसीलिए व्यापक रूप से चिंतन करने पर इन बोलियों के लिए याद देवनागरी लिपि को प्रयोग में लाया जाए तो इन लिपियों की व्यापकता बढ़ेगी और निस्सन्देह रूप से ये जनजातियां एक दूसरे के साथ सांस्कृतिक-भाई-चारे की भावना से जुड़कर विकास को प्राप्त हो सकेगी।

दक्षिण गुजरात की जनजातियों के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग की आवश्यकता इसलिए भी है—

(1) देवनागरी लिपि संसार की सर्वश्रेष्ठ लिपि है। यह लिपि प्राचीन ब्राह्मी लिपि से विकसित रूप है ऐसी स्थिति में दक्षिण गुजरात की उपर्युक्त जनजातियां प्रचीनकाल के अधिवासियों के वंशज रूप में रह रही हैं इससे इन जातियों की प्रचीन लिपि देवनागरी में सांस्कृतिक सामंजस्य प्रस्थापित किया जा सकेगा। यहां गुजराती लिपि का प्रयोग जनजातियों की लिपि के रूप में वर्तमान में प्रयोग किया जा रहा है। गुजराती लिपि भी कुछ हद तक देवनागरी लिपि का ही क्षेत्रीय रूपांतर ही है।

(2) एक राष्ट्रीय लिपि के रूप में देवनागरी लिपि की मान्यता को भी बल प्राप्त होगा।

(3) उपर्युक्त जनजातियों की बोलियों का क्षेत्र-विस्तार भौगोलिकता की दृष्टि से भी राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तक फैला हुआ है। इस स्थिति को मद्देनज़र रखते हुए भी 'देवनागरी लिपि' का प्रयोग सार्थक होगा।

दक्षिण गुजरात की जनजातिय बोलियां गुजराती लिपि में ही लिखी जाती हैं परन्तु गुजराती भाषा प्राचीन 'गुर्जर' अपभ्रंस भाषा का विकसित रूप है जबकि दक्षिण गुजरात की जनजातिय बोलियां महाराष्ट्री प्राकृत से उद्‌भूत हुई है और प्रचीन समय से ही दक्षिण क्षेत्र में नर्मदा के दक्षिण तट से कोंकण प्रांत व दक्षिण महाराष्ट्र में महाराष्ट्री प्राकृत बोली जाती थी। प्राचीन लाट प्रदेश भी इसी क्षेत्र के अंतर्गत परिगणित किया जाता है, जिसका कि सरस्वती कंठाभरण में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृत द्विषः।
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गौर्जराः॥

गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री डॉ० केशवराम का० शास्त्री, उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"लाटवासी (आजना मध्य गुजरात-पूर्व गुजरात-दक्षिण गुजरात ना भुभागमां ए समये वसनारा) ओ संस्कृत नो द्वेष करनारा हता अने सुन्दर प्राकृत भाषा (महाराष्ट्री प्राकृत) बोलता हता, ज्यारे गुर्जरो (रारस्वत मंडल, उत्तर गुजरात वासीओ) तो मात्र पोताना अपभ्रंश (एटले के "गौर्जरे अपभंश") ना ज पोतांना व्यवहार माटे उपयोग करी संतोष लेता हतां।" अर्थात् लाटवासी (वर्तमान मध्य गुजरात-पूर्व गुजरात-दक्षिण गुजरात के भूभाग पर उस समय के रहने वाले) संस्कृत से द्वैष करते थे और सुन्दर प्राकृत भाषा (महाराष्ट्री प्राकृत) बोलते थे, जबकि गुर्जर लोग (सारस्वत मंडल—उत्तर गुजरातवासी लोग) तो केवल अपने अपभ्रंश, (यानि कि गौर्जर अपभ्रंश) का ही अपने व्यवहार के लिए प्रयोग करके संतुष्ट होते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दक्षिण गुजरात की बोलियों का भौगोलिक क्षेत्र विस्तार, जिसका की डॉ. शास्त्री जी ने उल्लेख किया है यह वही दक्षिण गुजरात का क्षेत्र है जहां सुन्दर मराठी प्राकृत बोली जाती थी। वर्तमान दक्षिण गुजरात की जनजातिय बोलियों के रूप भी इसी प्राकृत भाषा के रूपों के अंतर्गत आएंगे—आते हैं तथा प्राकृत देवनागरी में लिखी जाती थीं—महाराष्ट्रीय मराठी भाषा उसी का विकसित रूप है वह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और जनजातीय बोलियां वैसे भी मराठी, राजस्थानी, हिंदी, भीली बोली से प्रभावित है। इस बात को समझने के लिए 'ढोल' (आदिवासी बोलियों की पत्रिका) से कुछ उदाहरण उद्धृत कर रहा हूं—

गुजराती	**देहवाली**	**कुंकणा**
आवे छे	आवे हे	ये हे
खाय छे	खा हे	खा हा
रमे छे	रोवे है	खेले ह
मारी नाख	माय टाक	मारी टाक
हिंदी	**देहवाली**	**कुंकणा**
हम खाते हैं	आमा खाता हा	आमुं खातजो हों
रीना जा रही है	रीना जाय रीयी है	रीना जाय रहनी
रामा क्या कर रहा है	रामो काय की रीयो हो	रामा काय कर हसा
राजस्थानी	**देहवाली**	**कुंकणा**
के हुयो !	काय वेयो ?	काय हुयनां ?
नींद न आवे	नींद नांय आवे ?	नींज नी लाग
हाथ जोडी	आथ जोडीन	हाथ जोडी

इस प्रकार वर्तमान दक्षिण गुजरात भी जनजातिय बोलियों के लिए देवनागरी लिपि वरदान सिद्ध हो सकती है।

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, एम.टी.बी. आर्ट्स कालेज, आठवां लाईन्स, सूरत-395001

सहायक पुस्तकों की सूची

(1) गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास
ग्रंथ-1
इतिहासनी पूर्व भूमिका : सं. रसिकलल छोटालाल परीख एवं हरिप्रसाद गंगाशंकर शास्त्री

(2) 5000 वर्ष पूर्वेनुं गुजरात : श्री मणिलाल द्विवेदी

(3) दक्षिण गुजरात के संतों की हिंदी सेवा : डॉ. ईश्वरचन्द्र देसाई

(4) भारत के आदिवासी : प्रकाशचन्द्र महेता

(5) The Bhils : A study : Dr. T. B. Naik

(6) वनवासी भील एवं उनकी संस्कृति : श्री चन्द्र जैन

(7) भारतीय भाषा सर्वेक्षण : डॉ. ग्रियर्सन

(8) आदिवासीओ गइ काले अने आजे : चौधरी कोमनो अभ्यास
ले. घनश्याम शाह, अनुवादक : शांतिलाल मेराई

(9) धोडिया ज्ञातिनो इतिहास : ले. श्री मोहनलाल दळवी

(10) The Warlis : K. J. Save

(11) गामीत भाषानुं व्याकरण: फाधर रेमन्ड ए. चौहाण एज. जे.

पत्र-पत्रिकाएं

(1) 'गुजरात' दीपोत्सवी अंक : वि. सं. 2054
तंत्री : महेश मांकड, सम्पादक : श्री दलपत पढ़ियार

(2) 'ढोल' (आदिवासी बोलीनुं सामयिक : सं. : डाह्याभाई वाढु, अंक : 1, 2, 3)

(3) धोडिया समाज सुरत 'जागृति' 30 जनवरी, 2000

(4) कुंकणा समाज : वांसदा तालुका कुंकणा समाज

(5) गुजरात की अनुसूचित जनजातियां (परिशिष्ट-10)
भारत सरकार के मिनिस्ट्री ऑफ लॉ. जस्टिस एण्ड कम्पनी
अफ़ेयर्स के 20 सितम्बर 1976 के एक्ट नं. 108

राजभाषा कार्यान्वयन संबंधी गतिविधियां

नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठकें

1. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति लुधियाना की 39वीं बैठक आयकर आयुक्त (केन्द्रीय) श्रीमती हरदीप कौर की अध्यक्षता में दिनांक 22 फरवरी, 2001 को लुधियाना में सम्पन्न हुई। इस अवसर पर पंजाब नेशनल बैंक और पंजाब एंड सिंध बैंक द्वारा संयुक्त रूप से एक प्रदर्शनी भी लगाई गई।

2. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, डिब्रूगढ़ की दूसरी बैठक दिनांक 15-3-2001 को होटल गार्डन स्ट्रीट में नराकास अध्यक्ष श्री रजनीश कुमार मिश्रा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। श्री मिश्रा ने कहा कि हिंदी को राजभाषा और राष्ट्र भाषा का दर्जा दिए जाने में गैर हिंदी भाषियों की सराहनीय भूमिका रही है।

3. तूतीकोरिन नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की अर्द्धवार्षिक बैठक समिति के अध्यक्ष एवं भारी पानी संयंत्र के महाप्रबंधक श्री अरुण दास कानतैया की अध्यक्षता में दिनांक 3-4-2001 को सम्पन्न हुई।

4. वर्ष 2000-2001 के दौरान कानपुर नगर स्थित केंद्रीय सरकार के कार्यालयों/उपक्रमों/निगमों/कम्पनियों आदि के अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति कानपुर के तत्वावधान में क्रमश: हिंदी टिप्पण आलेखन, हिंदी निबन्ध लेखन, हिंदी काव्य पाठ, हिंदी सम्भाषण आदि प्रतियोगिताओं का आयोजन 23 से 27 अप्रैल को किया गया।

5. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति जबलपुर की 38वीं बैठक नराकास अध्यक्ष एवं तोप गाड़ी फैक्टरी के वरिष्ठ महाप्रबंधक श्री बी. दत्ता के अध्यक्षता में 26 अप्रैल, 2001 को तोप गाड़ी फैक्टरी के क्लब हाल में हुई। बैठक में फैक्टरी के संयुक्त महाप्रबंधक (प्रशा.) श्री विनय भल्ला भी उपस्थित थे।

6. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति रतलाम की 42वीं बैठक दिनांक 27-4-2001 को मंडल रेल प्रबंधक और नराकास अध्यक्ष श्री कुलदीप चतुर्वेदी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई।

7. सुनाबेड़ा-कारापुट (उड़ीसा) नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति की 11वीं बैठक और वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह 30-4-2001 को नालको के सभागार में सम्पन्न हुआ। बैठक की अध्यक्षता हिन्दुस्तान ऐरोनोटिक्स लिमिटेड कोरापुट के महाप्रबंधक श्री देवकीनन्दन व्यास ने की।

8. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, सिलचर की 23वीं बैठक आयल एंड नेचुरल गैस लिमिटेड श्री कोना के तत्वावधान में दिनांक 30-4-2001 को हिन्दुस्तान पेपर कारपोरेशन लिमिटेड कछाड़ पेपर मिल, पंचग्राम के अधिशासी निदेशक की अध्यक्षता में हुई।

9. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति इम्फाल (मणिपुर) की प्रथम अर्धवार्षिक बैठक दिनांक 3-5-2001 को महालेखाकार (लेखा परीक्षा) कार्यालय इम्फाल में सम्पन्न हुई। बैठक की अध्यक्षता महालेखाकार (लेखा परीक्षा) श्री राय मथरानी ने की।

10. बैंक नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति कोयंबटूर की चौथी बैठक दिनांक 8-5-2001 को सम्पन्न हुई। इस अवसर पर नराकास की गृह पत्रिका "निष्ठा" के प्रथम अंक का विमोचन भी किया गया।

हिंदी सलाहकार समितियों की बैठकें

शहरी विकास और गरीबी उपशमन मंत्रालय की हिंदी सलाहकार समिति की बैठक

मंत्रालय की पुनर्गठित हिंदी सलाहकार समिति की प्रथम बैठक दिनांक 9-4-2001 को राज्यमंत्री श्री बंडारू दत्तात्रेय की अध्यक्षता में हैदराबाद (आंध्र प्रदेश) में सम्पन्न हुई। बैठक की अध्यक्षता करते हुए माननीय राज्यमंत्री ने कहा कि यह उनका क्षेत्र है और उन्हें इस बात की खुशी है कि हिंदी सलाहकार समिति की बैठक पुन: अपने अहिंदी भाषी क्षेत्र में करने का अवसर मिला है। उन्होंने कहा कि इतने समय बाद भी हिंदी को जो सम्मान मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पाया बल्कि अंग्रेजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। उन्होंने कहा कि हिंदी बढ़ाने के लिए नियम और कानून की नहीं बल्कि निष्ठा की आवश्यकता है। बैठक में जो निर्णय लिए गए, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :—

1. मंत्रालय के सभी कार्यालयों में अनुवाद की बजाय कागजात मूलत: हिंदी में तैयार किए जाने पर सदस्यों के सुझाव पर प्रभावी कार्रवाई करने का आश्वासन दिया गया। बैठक में यह बताया गया कि मंत्रालय में कई दस्तावेज सीधे हिंदी में तैयार किए जाते हैं और बाद में अंगेजी अनुवाद करके द्विभाषी।

2. मंत्री महोदय ने यह कहा कि हिंदी अधिकारी और कर्मचारी ज्यादा से ज्यादा काम हिंदी में करें, इसके लिए अधिकारियों और कर्मचारियों की मानसिकता में बदलाव करना बहुत आवश्यक है। सदस्यों को यह सूचित किया गया कि मंत्रालय द्वारा सुब्रह्मणियम भारती के नाम पर राष्ट्रीय सुब्रह्मणियम भारती राष्ट्रीय राजभाषा पुरस्कार योजना शुरु करने पर विचार किया जा रहा है।

3. उन्होंने बताया कि शहरी विकास मंत्रालय और उसके अधीनस्थ और सम्बद्ध कार्यालयों में हिंदी में ज्यादा से ज्यादा काम करने वाले कर्मचारियों को हर वर्ष विभिन्न अवसरों पर 30 हजार से लेकर 1 लाख रुपये तक नगद पुरस्कार दिए जाते हैं।

4. मंत्रालय के सभी कार्यालयों द्वारा ऐसे साहित्य की खरीद पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए जो मंत्रालय, कार्यालय के कामकाज में सहायक हों।

5. प्रचार सामग्री हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करने की व्यवस्था पर विचार किया जाना चाहिए।

बैंकिंग प्रभाग की राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठक

वित्त मंत्रालय, बैंकिंग प्रभाग की राजभाषा कार्यान्वयन समिति की 91वीं बैठक दिनांक 8 मई, 2001 को बैंकिंग प्रभाग के संयुक्त सचिव (प्रशा.) श्री शेखर अग्रवाल की अध्यक्षता में नई

दिल्ली में हुई। बैठक में बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के उच्च अधिकारियों ने भाग लिया। अधिकारियों को संबोधित करते हुए श्री अग्रवाल ने कहा कि राजभाषा हिंदी के प्रयोग से संबंधित सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों पर विचार-विमर्श करने के साथ-साथ यह देखना भी आवश्यक है कि क्या हम हिंदी का प्रचार-प्रसार पूरे मन से कर रहे हैं ? उन्होंने कहा कि अब समय आ गया है कि हम हिंदी को अपने कामकाज में अधिक से अधिक प्रयोग करें। हिंदी के प्रयोग के संबंध में उन्होंने माननीय प्रधानमंत्री जी द्वारा जारी निर्देशों की ओर भी समिति का ध्यान आकर्षित किया और उसका पालन करने का आग्रह किया। उन्होंने बैंकों में द्विभाषी साफ्टवेयर के उपयोग पर बल देते हुए कहा कि कम्प्यूटरीकरण की वजह से राजभाषा हिंदी के प्रयोग एवं प्रगति में बाधा न आए।

खान मंत्रालय

खान मंत्रालय की पुनर्गठित हिंदी सलाहकार समिति की बैठक दिनांक 16 मार्च, 2001 को खान मंत्री श्री सुन्दर लाल पटवा की अध्यक्षता में नई दिल्ली के संसदीय सौंध में सम्पन्न हुई। अपने अध्यक्षीय संबोधन में मंत्री जी ने खान मंत्रालय का संक्षिप्त परिचय, मंत्रालय के अधीनस्थ कार्यालयों और उपक्रमों में हिंदी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ाने के लिए किए जा रहे प्रयासों से समिति सदस्यों को अवगत कराया। मंत्री महोदय ने समिति सदस्यों को बताया कि मंत्रालय के अधीन दो अधीनस्थ कार्यालय भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण और भारतीय खान ब्यूरो के अलावा 5 उपक्रम हैं जिनमें सरकार की राजभाषा नीति को लागू करने के लिए उचित प्रबंध किए जा रहे हैं। मंत्रालय में राजभाषा हिंदी के संबंर्धन के लिए उपक्रमों और अधीनस्थ कार्यालयों में प्रयुक्त होने वाले तकनीकी शब्दों का एक शब्द संग्रह खनन एवं भू-विज्ञान शब्दसंग्रह प्रकाशित करवाया गया।

हिंदी कार्यशालाएं

1. कार्यालय मुख्य इंजीनियर, अंचल-1, लोक निर्माण विभाग, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट, नई दिल्ली

लोक निर्माण विभाग के मंडल-7 तथा मंडल 14 के अधिकारियों/कर्मचारियों के लिए दिनांक 22 और 23 फरवरी, 2001 को 2 दिवसीय अल्पकालीन हिंदी कार्यशाला का आयोजन किया गया। कार्यशाला में 21 अधिकारियों/कर्मचारियों ने भाग लिया जिन्हें हिंदी टिप्पण और मसौदा आलेखन के विभिन्न रूपों का प्रशिक्षण दिया गया।

2. अहमदनगर दूरसंचार जिला कार्यालय

दिनांक 23 अप्रैल से 24 अप्रैल, 2001 तक 2 दिवसीय हिंदी कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसका उद्घाटन महाप्रबंधक दूरसंचार श्री वी० कृष्ण कुमार ने किया। कार्यशाला में अहमद नगर दूरसंचार के अधीनस्थ कार्यालयों के 10 कर्मचारियों ने भाग लिया। प्रतिभागियों को हिंदी वर्तनी, कार्यालीन पत्राचार और अनुवाद विषयों पर जानकारी दी गई और अभ्यास कराया गया।

3. केन्द्रीय रेशम उत्पादन, अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, बहरमपुर, पश्चिम बंगाल

संस्थान में 28 अप्रैल, 2001 को एक दिवसीय पूर्णकालिक हिंदी कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें कुल 37 अधिकारियों ने भाग लिया। प्रतिभागियों को राजभाषा अधिनियम, नियम, मसौदा लेखन, टिप्पण आलेखन और प्रशासनिक शब्दावली आदि जैसे विषयों पर व्याख्यान दिए गए और अभ्यास कराया गया।

4. पंजाब नेशनल बैंक, क्षेत्रीय कार्यालय, सैक्टर 17-बी, चण्डीगढ़

चण्डीगढ़ एवं पंचकुला स्थित बैंकों के अधिकारियों और लिपिक वर्ग के कर्मचारियों के लिए दिनांक 7 मई से 9 मई 2001 तक 3 दिवसीय बैंकिंग उन्मुख हिंदी कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें 29 प्रशिक्षणार्थियों ने भाग लिया।

5. प्रसार भारती, भारतीय प्रसारण निगम, आकाशवाणी बीकानेर

दिनांक 8 मई, 2001 को आकाशवाणी बीकानेर में हिंदी कार्यशाला अयोजित की गई। उद्घाटन अवसर पर अपर मंडल रेल प्रबंधक एवं नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति के उपाध्यक्ष श्री बी.एल. मीना मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित हुए। श्री मीना ने कहा कि हिंदी के प्रयोग को बढ़ाने की दिशा में ऐसी कार्यशालाओं का आयोजन अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। हिंदी के प्रचार-प्रसार में आकाशवाणी का योगदान प्रशंसनीय है।

राजभाषा अधिकारियों का सम्मेलन

महाराष्ट्र राज्य स्तरीय बैंकर समिति (राजभाषा) के सदस्य बैंकों/वित्तीय संस्थाओं के राजभाषा अधिकारियों को नई संकल्पनाओं, तकनीक व जानकारियों से अवगत कराने हेतु दिनांक 11-12 अप्रैल, 2001 को औरंगाबाद में दो दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन का आयोजन समिति के संयोजक बैंक ऑफ महाराष्ट्र द्वारा किया गया जिसमें सदस्य बैंकों/वित्तीय संस्थाओं के कुल 39 राजभाषा अधिकारियों ने भाग लिया।

दिनांक 11-4-2001 को बैंक ऑफ महाराष्ट्र के अध्यक्ष व प्रबंध निदेशक तथा महाराष्ट्र राज्य स्तरीय बैंकर समिति (राजभाषा) के अध्यक्ष श्री सुकमल चंद्र बसू जी ने दीप-प्रज्वलन द्वारा सम्मेलन का उद्घाटन किया। मराठवाड़ा विद्यापीठ के पूर्व कुलपति तथा हिंदी विभागाध्यक्ष, डा. भगत सिंह राजूरकर ने उद्घाटन समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित हुए। नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति (औरंगाबाद) के अध्यक्ष तथा केन्द्रीय उत्पाद व सीमा शुल्क के आयुक्त श्री ए. एस. सिद्धू इस अवसर पर विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित थे।

श्री ए. एस. सिद्धू ने अपने वक्तव्य में इस बात पर बल दिया कि राजभाषा कार्यान्वयन को अपेक्षित गति देने के लिए हमें सामान्य बोलचाल की, सामान्य व्यवहार में प्रयोग की जानेवाली हिंदी का प्रयोग सरकारी कामकाज में करना होगा। उन्होंने अपने वक्तव्य में बैंक ऑफ महाराष्ट्र द्वारा राजभाषा कार्यान्वयन के क्षेत्र में किए जा रहे कार्यों की सराहना की।

मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए डॉ. भगतसिंह राजूरकर ने भारत की गौरवमयी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए आह्वान किया कि संकल्प में बड़ी शक्ति है। यदि राजभाषा कार्यान्वयन का हम संकल्प कर लें तो जो कार्य स्वाधीनता के 53 वर्षों में न हो सका, वह अति अल्प समय में हो सकता है।

बैंक ऑफ महाराष्ट्र के अध्यक्ष एवं प्रबंध निदेशक तथा महाराष्ट्र राज्य स्तरीय बैंकर समिति (राजभाषा) के अध्यक्ष श्री सुकमल चंद्र बसु ने सम्मेलन की सफलता हेतु अपनी शुभकामनाएं व्यक्त करते हुए कहा कि धर्म, दर्शन और भाषा जैसे क्षेत्र राजनीति से बिल्कुल अलग होनें चाहिए। भाषा हमारी संस्कृतिक धरोहर है और हिंदी सभी भारतीय भाषाओं के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है। हिंदी व्यावहारिक संपर्क की भाषा है, समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने वाली भाषा है। इसलिए इसे अधिकाधिक प्रचारित-प्रसारित करना हमारा राष्ट्रीय दायित्व भी है?

प्रशिक्षण स्तर में "बैंकिंग", "कंप्यूटर और हिंदी" तथा "सूचना प्रौद्योगिकी और राजभाषा", "बैंकिंग की नई चुनौतियां"—राजभाषा अधिकारियों की भूमिका विषयों पर प्रतिभागियों का मार्गदर्शन किया गया।

12 अप्रैल, 2001

सम्मेलन के दूसरे व अंतिम दिन के प्रथम सत्र की शुरुआत डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी, महाप्रबंधक, भारतीय रिजर्व बैंक ने बैंकिंग की नई धारणाएं व राजभाषा विषय पर अपने वक्तव्य से की। उन्होंने बदलते बैंकिंग परिदृश्य में शब्दावली के भावी स्वरूप निर्धारण पर भी विस्तार से चर्चा की। दूसरे सत्र में श्री शिवानंद धुत्रे, उप निदेशक, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय ने "राजभाषा कार्यान्वयन, अपेक्षाएं, उपलब्धियां व सम्भावनाएं" विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला।

यूनियन बैंक ऑफ इंडिया के प्रभारी (राजभाषा) श्री हरि तिवारी ने लिया। उन्होंने "संसदीय राजभाषा समिति व विभिन्न समितियां" विषय पर अत्यंत महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया और प्रशिक्षु अधिकारियों की इन समितियों के निरीक्षण से जुड़ी विभिन्न शंकाओं का सफलतापूर्वक समाधान किया।

समापन समारोह की अध्यक्षता क्षेत्रीय कार्यालय औरंगाबाद के सहायक महाप्रबंधक श्री भास्कर महाजन ने की। समापन समारोह के मुख्य अतिथि के रूप में श्री अच्युतानंद मिश्र, संपादक, लोकमत समाचार नागपुर उपस्थित थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में बोलते हुए क्षेत्रीय कार्यालय, औरंगाबाद के सहायक महाप्रबंधक श्री भास्कर महाजन ने कहा कि इस प्रकार के सम्मेलनों से राजभाषा कार्यान्वयन को नई दिशा व गति मिलती है। उन्होंने पुन: हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की कि सम्मेलन हेतु औरंगाबाद का चुनाव कर आयोजन का दायित्व उन्हें सौंपा गया। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि सम्मेलन की दो दिन की अवधि में हुए विचार-विमर्श से आमंत्रित राजभाषा अधिकारी अवश्य लाभान्वित हुए हैं और इस ज्ञानवर्धन का लाभ उनकी संस्थाओं के राजभाषा कार्यान्वयन को अपेक्षित गति देने में अवश्य मिलेगा।

आदेश-अनुदेश

भारत सरकार के सभी मंत्रालयों/विभागों आदि को जारी सचिव, राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) का दिनांक 20-8-2001 का कार्यालय ज्ञापन सं. 1/14034/03/2001-रा.भा.(नीति-1)

कार्यालय ज्ञापन

हिंदी दिवस-2001

कृषि मंत्रालय इत्यादि को ज्ञात है कि भारत सरकार के सभी कार्यालय राजभाषा विभाग द्वारा जारी किए गए दिशा निदेशों के अनुसार प्रत्येक वर्ष 14 सितम्बर को हिंदी दिवस और उस दिन से शुरू करके हिंदी सप्ताह, पखवाड़ा, माह मनाते आ रहे हैं। जिन कार्यालयों के प्रशासनिक प्रमुख इन कार्यक्रमों में रुचि लेते हैं वहां ये बहुत ही सफलतापूर्वक मनाए जाते रहे हैं। जहां ऐसा नहीं होता वहां ये मात्र एक औपचारिकता या रस्म अदायगी बनकर रह जाता है। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य संविधान की भावना के अनुरूप और संसद के निदेशों के अनुसार सरकारी कामकाज हिंदी भाषा के माध्यम से करने के लिए वातावरण तैयार करना है। विभाग प्रमुख के मार्गदर्शन के बगैर

इस गंभीर विषय का महत्व कम हो जाता है। **अतः वर्ष 2001 के कार्यक्रमों की रूप-रेखा विभाग प्रमुख अपने मार्ग-दर्शन में बनवाएं और क्रियान्वित करवाएं।**

2. राजभाषा हिंदी में काम के लिए उपयुक्त वातावरण निर्माण के संबंध में माननीय प्रधान मंत्री जी द्वारा माननीय मंत्रीगणों को लिखे गए दिनांक 23-12-2000 के पत्र में दिए गए निदेशों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

3. सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग हेतु राजभाषा विभाग प्रतिवर्ष एक वार्षिक कार्यक्रम जारी करता है। इस कार्यक्रम को संसद के **राजभाषा संकल्प** 1987 के निदेश के अनुसार तैयार किया जाता है और इसी निदेश के अनुपालन में एक वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखी जाती है, जिसमें उपलब्धियां और कमियां दर्शाई जाती हैं। यद्यपि वार्षिक कार्यक्रम पिछले 32 वर्षों से जारी किया जाता है, फिर भी इसके परिणाम संतोषप्रद नहीं रहे हैं। **अतः इस वर्ष 14 सितम्बर से शुरु होने वाले कार्यक्रम वार्षिक कार्यक्रम में दिए गए लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में हों।**

4. सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सभी अधिनियमों, नियमों, नीतिगत आदेशों इत्यादि की पूरी जानकारी रखें। राजभाषा हिन्दी के विषय में यह जानकारी संविधान के भाग-5 (अनुच्छेद 120), भाग-6 (अनुच्छेद 210) और भाग-17 (अनुच्छेद 343 से 351 तक), राजभाषा अधिनियम 1963 (यथा संशोधित 1967), राजभाषा नियम 1976 (यथा संशोधित 1987), राजभाषा संकल्प 1967 (अधिसूचित 1968) और राजभाषा विभाग द्वारा जारी आदेशों में निहित है। **14 सितम्बर से शुरू होने वाले कार्यक्रमों में इन प्रावधानों पर विस्तृत चर्चा करके इनके महत्व को उजागर किया जाना चाहिए।**

5. सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि टिप्पण और आलेखन हिंदी में होने चाहिए। हिंदी दिवस के अवसर पर इस दिशा में जो भी प्रयास शुरू किए जाएंगे उनके अच्छे परिणाम होंगे।

6. इसी प्रकार प्रशासनिक बैठकों, सेमिनारों आदि में हिंदी का अधिकाधिक प्रयोग होना चहिए। नीतिगत सभी दस्तावेत हिंदी में उपलब्ध होने चाहिए जिससे काम करने में सहूलियत हो।

7. जिस प्रकार अधिकारियों और कर्मचारियों को अंग्रेजी के शब्दकोश उपलब्ध कराए जाते हैं उसी तरह उन्हें अंग्रेजी-हिंदी तथा हिंदी शब्द कोष भी उपलब्ध कराए जाने चाहिए।

8. आदेशों की अवहेलना करते हुए अभी भी कई कार्यालय केवल अंग्रेजी की मोहरें इस्तेमाल कर रहे हैं। प्रशासन को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि ऐसी सभी मोहरें नष्ट करवा दी जाएं और उनके स्थान पर द्विभाषी (हिंदी-अंगेजी में) मोहरें ही काम में लाई जाएं। **इस काम के लिए किसी अनुस्मारक की आवश्यकता नहीं रह जानी चाहिए।** इसी तरह नामपट्ट, पत्र-शीर्ष लिफाफे आदि पर हिंदी और अंग्रेजी का प्रयोग सुनिश्चित किया जाए जिसके संबंध में पहले से आदेश हैं।

2614 H.A./2001—6

9. सभी वेबसाइट (Web-site) हिंदी में भी तैयार करवाई की जानी चाहिए।

10. उदारीकरण/वैश्वीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप विश्व के देशों में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में रुचि अत्यधिक बढ़ गई है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि संघ सरकार की राजभाषा व प्रांतों की राजभाषाओं को यथोचित महत्व देना उनके व्यावसायिक हित में है। आधुनिक ज्ञान के क्षेत्र में बौद्धिक आदान-प्रदान के लिए भी इसका महत्व है। इंटरनेट पर ऐसी कई सौ साईट्स हैं जो हिंदी और भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन, अनुवाद इत्यादि के पाठ्यक्रम चलाते हैं। इन्हें ध्यान में रखकर सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रयोग को अधिक पुष्ट करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएं।

11. उपरोक्त के परिप्रेक्ष्य में कृषि मंत्रालय इत्यादि कृपया अपने सुविचारित कार्यक्रम तैयार करें और उन्हें क्रियान्वित करवाएं। सूचना इस विभाग को भी तथ्यों के समेकित करने के लिए भिजवाने की कृपा करें।

12. अनुरोध है कि तदनुसार सभी मंत्रालय/विभाग अपने संबंद्ध/अधीनस्थ कार्यालयों, उपक्रमों, बैंकों, वित्तीय संस्थाओं, स्वैच्छिक संस्थाओं आदि को आवश्यक निदेश जारी करें।

हिंदी वैज्ञानिक संगोष्ठी का आयोजन

परमाणु ऊर्जा विभाग द्वारा दिनांक 5 सितम्बर, 2001 को इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर आडिटोरियम, नई दिल्ली में ''परमाणु ऊर्जा और सामाजिक उत्थान'' पर हिंदी वैज्ञानिक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस संगोष्ठी के समारोह की अध्यक्षता परमाणु ऊर्जा आयोग और परमाणु ऊर्जा विभाग के सचिव डा. अनिल काकोडकर ने की। योजना आयोग के सदस्य डा. डी.एन. तिवारी इस संगोष्ठी में मुख्य अतिथि के रूप में पधारे। संगोष्ठी में 2 तकनीकी सत्र रखे गए।

डा. डी.एन. तिवारी ने संगोष्ठी के प्रतिभागियों को संबोधित करते हुए कहा कि परमाणु ऊर्जा विमान ने सामाजिक उत्थान के क्षेत्र में काफी विकास किया है। समाज के विकास के लिए आज परमाणु ऊर्जा का इस्तेमाल कई क्षेत्रों में किया जा रहा है। विभाग ने सामाजिक उत्थान के लिए विभिन्न क्षेत्रों में जो विकासात्मक काम किए हैं उन कामों को बड़े पैमाने पर जनता तक पहुंचाने की आवश्यतता है। उन्होंने कहा कि विभाग ने 2020 तक 20,000 मेघावाट विद्युत उत्पादन की क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य रखा था। यदि विभाग को समय पर पर्याप्त धन और दूसरे संसाधन उपलबध कराए जाएं तो बिजली उत्पादन का रखा गया यह लक्ष्य 2010 तक ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने संगोष्ठी को हिंदी में किए जाने पर प्रसन्नता जतार्ह और कहा कि आने वाले समय में भारत संयुक्त राष्ट्र का स्थायी सदस्य बनेगा। भारत के स्थायी सदस्य बनते ही हिंदी भाषा विश्व भाषा के रूप में उभरेगी।

संगोष्ठी में नाभिकी विद्युत कार्यक्रम, विकिरण संशोधन द्वारा खाद्य पदार्थो का संरक्षण, विकिरण प्रौद्योगिकी का योगदान, नाभिकीय, औषध कार्यक्रम, कैसर के निदान और चिकित्सा में विकिरण तकनीकों का योगदान, उद्योगों में विकिरण तकनीको के अनुप्रयोग, लेज़र और इलेक्ट्रान बीम त्वरकों का विकास और अनुप्रयोग और जल का विलयीकरण विषयों पर चर्चा की गई।

परमाणु ऊर्जा विभाग के अध्यक्ष डा. अनिल काकोडकर ने कहा कि वैज्ञानिक खोज और प्रौद्योगिकी विकास के कार्य को इस प्रकार आगे बढ़ाना चाहिए कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी विकास में एक सहक्रिया स्थापित हो। उन्होंने कहा कि विभाग ने नाभिकीय विज्ञान के समस्त क्षेत्रों में विकास किया है। इसके अलावा खाद्य परिक्षण, स्वास्थ्य सरंक्षण और जल प्रबंधन आदि में विभाग ने प्रगति की है।

मंत्रालयों/विभागों, उपक्रमों, राष्ट्रीयकृत बैंकों और नगर राजभाषा कार्यान्वयन समितियों द्वारा प्रकाशित गृह पत्रिकाओं में प्रकाशित उत्कृष्ट रचनाएं

"मेरी व्यथा"

डा. शरद बाबू पुरोहित,

मुख्य चिकित्सा अधिकारी

मस्तिष्क का वो अंश,
जो शून्य है अभी
न था शून्य वो भी
कभी उसमें भी लेती,
आशाएं हिंडोले,

था उसमें भी सामर्थ्य
भेद करने का अपने पराये में
खोया हुआ कुछ ढूंढ लेने का
मस्तिष्क के इसी कोने में

कभी, सिमट जाता था सागर भी
अनन्त अपनी शून्यता खो देता था कभी! बता –
अब तक झेला है जो और कब तक झेलना होगा?
क्या फिर से बस पायेगा, इस जीवन में कभी
मस्तिष्क का वो अंश, जो शून्य है अभी?

लेडी हार्डिंग मेडिकल कालेज एवं श्रीमती सुचेता कृपलानी अस्पताल, नई दिल्ली–110001.
की राजभाषा पत्रिका "चिकित्सा भाषा मंजूषा" के अंक 10 से साभार

MGIPRRND—2614 H.A./2001—2,000 Copies.